॥ ॐ ॥

श्री पूज्यपाद स्वामी ११वें आचार्य का संक्षिप्त परिचय ।

श्रीपूज्यपाद स्वामी ने वि० सं० २८१ में जन्म लिया और पूर्व जन्म के शुभ संस्कारों से थोड़े ही दिनों में बहुतसे शास्त्रों का अध्ययन करलिया, आप बाल ब्रह्मचारी थे । १५ वर्ष की आयु में आपने जिनदीक्षा लेकर कठिन से कठिन तपश्चरण किए । आपको अनेक ऋद्धियां भी सिद्ध होगई थीं, उस समय आपके तप की महिमा चारों ओर फैल रही थी ।

अनेक राजा महाराजा आपके परम भक्त थे ।

आप महर्षियों में भी सर्वोपरि रत्नत्रय-धारक थे ।

आपने वैद्यक, रसायन, व्याकरण, न्याय, सिद्धान्त आदि अनेक विषयों के शास्त्र निर्माण किये हैं ।

आप ११ वर्ष ७ मास मुनिपद में रहे और जेठ सुदी १४ सं० ३०८ शुक्रवार को आचार्यपद पर सुशोभित हुए ।

आपने ४४ वर्ष ११ मास २२ दिन आचार्यपद पर शासन किया ।

आपके शासन काल में हजारों मुनि ब्रह्मचारीगणों का विस्तृत संघ था ।

अन्त में आचार्यपद को त्याग कर पुनः मुनिपद को स्वीकार किया और ७ दिन अनशन नामक तप को धारण कर संन्यासपूर्वक समाधिस्थ हुवे । आपकी पूर्ण आयु ७१-६-२१ की थी ।

पूज्यौ पादौ यस्य असौ पूज्यपादः

अर्थात् जिनके चरणकमल पूजने योग्य हैं ।

मोहकमलाल जैन

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

श्रीसमाधि-शतक ।

दोहा—शुद्ध ज्ञानमय देव जो, राजे मुझ घट व्याप ।
ताकूं अब अनुभव करूं, मिटे मोह संताप ॥

सोरठा—शतक समाधि ग्रन्थ, पूज्यपाद स्वामी रचा ।
आतम अनुभव सार, भगवावन को सूर्य सम ॥

दोहा—हिन्दी भाष्य न देख कहुं, लिख टीका सुगमार्थ ।
संतन को आनन्दकर, साधा निर्मल स्वार्थ ॥

प्रथम ही संस्कृत टीकाकार प्रभाचन्द्र आचार्य ने जो मंगलाचरण किया है उसका अन्वयार्थ लिखा जाता है—

श्लोक—सिद्धं जिनेन्द्रमलमप्रतिमप्रबोधं ।
निर्वाणमार्गममलं विबुधेन्द्रवन्द्यम् ।
संसारसागर समुत्तरण प्रपोतं ।
वक्ष्ये समाधिशतकं प्रणिपत्त्यवीरम् ॥

अन्वयार्थ—(अहं) मैं प्रभाचन्द्र (विबुधेन्द्रवंद्यम्) देवेन्द्रों से वंदनीक (अमलं) कर्ममल रहित (निर्वाणमार्ग) मोक्ष के मार्गस्वरूप (संसारसागरसमुत्तारणप्रपोतं) संसारसागरसे पार करनेके लिये जहाज के समान (अप्रतिमंप्रबोधं) अनुपम केवलज्ञानधारी (सिद्धम्) अपने कार्य-को सिद्धकर्त्ता श्री (जिनेन्द्रम्) जिनेन्द्र (वीरं) महावीर को (प्रणिपत्य) नमस्कार करके (समाधिशतकं) समाधिशतक (वक्ष्ये) की व्याख्या करता हूं-(अलम् अव्यय है) ।

अथ श्रीसमाधि-शतक ग्रन्थ की भाषा वचनिका लिख्यते ।

श्लोक—येनात्माऽबुध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम् ।
अक्षयानंत बोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः ॥१॥

अन्वयार्थ—(येन) जिसके द्वारा (आत्मा) आत्मा (आत्मा-एव) आत्मा ही (च) और (अपरम्) आत्मासे भिन्न सर्वपर जो कुछ है सो (परत्वेन एव) पररूप ही (अबुध्यत) जाना गया (तस्मै) उस (अक्षयानंत बोधाय) अविनाशी और अन्तरहित ज्ञानवाले (सिद्धात्मने) सिद्धात्मा को (नमः) नमस्कार होहु ।

भावार्थ—इस महान् अध्यात्मिक ग्रन्थ को शुरू करते हुए श्रीपूज्य-पाद स्वामी ने इस श्लोक के द्वारा मंगलमयी श्रीसिद्धात्मा को इसी लिये नमस्कार किया है कि अपने आत्म स्वरूप का अनुभव होजावे क्योंकि सिद्ध भगवान जो कि परम शुद्ध सर्व-कलंकरहित निरंजन स्वाधीन आत्मा हैं और अपने शरीर में छिपा हुआ आत्मा इन दोनों में यद्यपि व्यक्तिगत व प्रदेशों के आकार की अपेक्षा भिन्नता है तथापि जाति की अपेक्षा एकता है। जितने गुण सिद्ध भगवान-परमात्मा में हैं वे सब गुण इस अपनी आत्मा में निश्चय से अर्थात् असल में विराजमान हैं। जब वस्तु स्वरूप की दृष्टि से देखा जाता है तो सिद्ध में और अपने घट में विराजित आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। गुणों की दृष्टि से समानता है। यद्यपि व्यवहार दृष्टि से कर्म-कलंक के न होने से सिद्ध और कर्मकलंक होने से संसारी या अशुद्ध कहलाता है तथापि निश्चय दृष्टि से सिद्ध और आत्मा के स्वरूप और गुणों में समानता है। जैसे निर्मल पानी और मैले पानी में मैल के न होने तथा होने की अपेक्षा अन्तर है तथा असल पानी के स्वभाव की अपेक्षा देखा जाय तो दोनों पानी के स्वभावों में समानता है। मैल से मिले रहने पर भी मैल के स्वभाव रूप पानी हो नहीं जाता। यदि हो जाता तो कभी भी मैला पानी निर्मल नहीं हो सकता। परन्तु वह मैला पानी मैल को छोड़ कर स्वयं निर्मल हो जाता है।

जैसे सिद्ध भगवान अपनी भिन्न सत्ता को सदा रखते हुए अपने स्व भाव में हैं तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, कामविकार आदि रूप नहीं हैं वैसे यह अपने शरीर में तिष्ठा आत्मा भी अपनी भिन्न सत्ता को सदा रखता हुआ अपने स्वभाव की अपेक्षा अपने स्वभाव में हैं तथा क्रोधादि विकार रूप नहीं है।

जैसे सिद्ध भगवान इस जगत में स्थित अन्य सर्व मूल और वास्तविक पदार्थों से अपनी सत्ता को भिन्न रखते हैं वैसे यह आत्मा भी अन्य सर्व द्रव्यों से भिन्न है। यह जगत् छः जाति के मूलद्रव्यों का समुदाय है। वे छः जाति के द्रव्य हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश। इनमें जीव और पुद्गल अनंतानंत हैं। धर्म, अधर्म और आकाश एक २ हैं काल असंख्यात हैं जो रत्न की राशि के समान भिन्न २ आकाशके एक २ प्रदेश में स्थित हैं।

इन छहों द्रव्यों में रूप रस गंध स्पर्श गुण को धरने वाला मात्र पुद्गल है और पांचों नहीं। इसलिये पांच अमूर्तिक और पुद्गल मूर्तिक है। इन छहों की सत्ता स्वतः सिद्ध है। हम अपने ही भीतर विचार करेंगे तो चेतनात्मक क्रिया का कर्त्ता जीव स्वयं झलकेगा तथा शरीर, वर्तन आदि अचेतन जड़ पदार्थ पुद्गल हैं ऐसा प्रत्यक्ष मालूम होता ही है। जीव और पुद्गल की प्रगटता हम सबको होरही है। ये दोनों इस जगत् में ४ काम करते पाए जाते हैं। (१) गमन करना (२) गमन से रुक जाना (३) परिणमन करते रहना अर्थात् अवस्था से अवस्थान्तर होना तथा (४) अवकाश पाना। हरएक काम के लिये उपादान और निमित्त कारणकी जरूरत होती है। जैसे मिट्टी के घड़े के लिये उपादान या मूल कारण जिससे घड़ा बना है मिट्टी है तथा निमित्तकारण कुम्हार का चाक, पानी आदि हैं। रोटी बनने के लिये उपादान कारण गेहूं है जब कि निमित्तकारण अग्नि, तवा, बेलन आदि हैं। इन दोनों में एक कारण न हो तो कार्य कभी नहीं होसक्ता। इस न्याय से जो चार क्रियाएं जीव और पुद्गल कर रहे हैं उनके उपादान कारण तो वे स्वयं ही हैं किन्तु उनके लिये निमित्तकारण चाहिये। इसी लिये ये दूसरे चार द्रव्य इस जगत् में अपनी सत्ता रखते हैं। गमन में सहकारी धर्मद्रव्य,

स्थिति में सहकारी अधर्मद्रव्य, परिणमनमें सहकारी कालद्रव्य तथा अवकाश देनेमें सहकारी आकाश द्रव्य है। इन छहों द्रव्योंके समुदाय का नाम ही यह जगत् है। ये छहों द्रव्य सत् रूप पदार्थ हैं। जो २ सत्रूप वस्तुएं होती हैं, उनका आदि और अन्त नहीं होता। यह नियम है कि सत् का विनाश नहीं और असत् का उत्पाद नहीं होता। यह बात प्रत्यक्ष प्रगट है। हम जब किसी अवस्था का होना देखते हैं तब यही झलकेगा कि वह अवस्था अन्य किसी अवस्था के स्थान पर हुई है तथा हम जब किसी अवस्था का विगड़ना देखते हैं तब यही मालूम होगा कि यह अवस्था विगड़ कर दूसरी अवस्था पैदा हुई है। जगत् में वस्तुओं की अवस्थाएं ही विगड़ती और बनती हैं। अर्थात् बदलती हैं किन्तु मूल वस्तुएं सदा बनी रहती हैं।

जैसे १० तोले सुवर्ण से हमने एक जंजीर या कंठी बनाई। थोड़े दिन पीछे कंठी तोड़कर उसी सुवर्ण के दो भुजबन्द बना डाले। फिर कुछ दिन पीछे उन भुजबन्दों को भी तोड़ कर दो कड़े बना डाले, कुछ काल पीछे इनको भी तोड़ कर एक कर्धनी बना डाली। इस तरह सुवर्ण की अवस्थाएं विगड़ी और बनीं परन्तु सुवर्ण जो १० तोला था वह सब अपनी अवस्थाओं में उतना ही बना रहा। यह बात दूसरी है कि दो चार रत्ती खिरकर कहीं गिर पड़ गया हो। तथा जैसा सुवर्ण था वैसा ही वह बना रहा—अर्थात् जो गुण सुवर्ण में थे वे उसमें बराबर बने रहे। जड़ परमाणुओं के मिलने से आत्मा का रहने का स्थान शरीर बनता है इसीको जन्म कहते हैं। जब जड़ परमाणु शिथिल हो बिखरने लगते हैं तब शरीर रूपी घर विगड़ कर उसकी या उसमें के परमाणुओं की दूसरी अवस्था हो जाती है इसीको मरण कहते हैं। शरीर रूपी घरके बनने और विगड़ने पर भी मूल वस्तु परमाणु न बने और न नष्ट हुए। आत्मा पहिले किसी अन्य देह में था वहां से आकर दूसरी देह में गया जब वह विगड़ी तब वह तीसरी देहमें गया—यद्यपि छोटे बड़े शरीर के कारण आत्मा का आकार बदला पर आत्मा न जन्मा न मरा न उसका कोई खंड हुआ न उसमें कुछ आकर मिला। जैसे दीपक का प्रकाश छोटे स्थान में थोड़ा फैलता व बड़े स्थान में बड़ी ज्यादा फैलता है और जब उसे फिर छोटे पात्र में रख दें तो फिर

संकुच जाता है वैसे आत्मा छोटी देह में संकुच कर छोटा और बड़ी देहमें फैल कर बड़ा होजाता है।

इसी ऊपर कहे हेतु से यह सिद्धांत है कि जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप हो उसे सत् कहते हैं। जिसका भाव यही है कि वस्तु जो सत् रूप है वह अपने गुण, स्वरूप की अपेक्षा सदा रहती है इससे ध्रौव्य है परन्तु अवस्थाओं की अपेक्षा सदा बनती बिगड़ती रहती है इससे उत्पाद और व्यय रूप है। ये तीन बातें हर समय हर द्रव्य में पाई जाती हैं। कल सबेरे हमने जिस आम के फल को बिलकुल हरा देखा था आज सबेरे हम उसे कुछ पीला पारहे हैं। हरे से पीला होना यह अवस्था बदलना हर समय धीरे २ हुआ है ऐसा नहीं कि एक दम से हरे से पीलापन हो गया हो यद्यपि इस तरह समय २ अवस्था पलटी तथापि वर्ण गुण तो सदा ही रहा है। और उसका आधार गुणी आमके परमाणु सदा ही रहे हैं।

छः द्रव्यों में जीव और पुद्गल को छोड़ कर चार में सदा ही स्वभाव रूप ही शुद्ध परिणमन होता है। शुद्ध जीवों में भी ऐसा ही स्वभाव परिणमन होता है। शुद्ध पदार्थों में बिना दूसरी विकारक वस्तु के निमित्त के कोई विकार रूप अवस्था नहीं होती। जैसे शुद्ध निर्मल पानी में तरंगें उठती हैं पर वे सब निर्मल रूप ही उठती बैठती हैं। अशुद्ध द्रव्यों में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध से अवस्थाएं विकार रूप पलटती हैं जैसे जब संसारमें जीव कार्माण रूपी सूक्ष्म देह से मिश्रित है तब मोह कर्म के उदय से आत्माके ज्ञानोपयोग मे क्रोध, मान, माया, लोभ, काम, भय, घृणा, शोक, रति, अरति, हास्य आदि विकार झलकते हैं उसी तरह जैसे हरे पीले लाल डांक के सम्बंध से स्फटिक मणि का पाषाण हरा पीला लाल रूप विकारों को झलकाता है। यदि इस स्फटिक पाषाण को हरे पीले लाल डाक का निमित्त न हो तो वह निर्मल कांति वाला श्वेत ही झलके ऐसे ही यदि इस आत्मा को जड़ रूप जो मोह कर्म उसके उदय का निमित्त न हो तो यह निर्मल ज्ञान दर्शन उपयोग मयी ही झलके। क्योंकि जड़ पदार्थों में हम प्रत्यक्ष अवस्था का पलटना देखते हैं इसीसे अनुमान होता कि हर एक द्रव्य का यह परिणमन होना स्वभाव है और इसी अनुमान से शुद्ध द्रव्यों में उनकी अवस्था का

स्वभाव रूप पलटना अनुमान किया जाता है। इसी सत् तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप सत् के सिद्धांत के अनुसार यह सिद्ध है कि यह जगत् अनादि अनन्त और अकृत्रिम है। न इसका कोई रचनेवाला है न कोई नाश करने वाला है। अवस्थाओं का जो रचना व नाश होना जगत् के द्रव्यों में होता है उसमें मूल उपादान कारण तो वे आप ही हैं निमित्त कारण यद्यपि सब के लिये कालद्रव्य है तथापि विभाव रूप परिणमने वाले जीव और पुद्गलों के लिये पुद्गल और जीव भी हैं अर्थात् जीवों में क्रोधादि भाव होने में निमित्त पूर्वबद्ध मोह रूप पुद्गलकर्म का उदय है तथा पुद्गलकर्म वर्गणा का ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप परिणमन होने में जीव का राग द्वेष मोह परिणाम निमित्त है तथा पुद्गलों का परमाणु व स्कंधरूप होने में परस्पर पुद्गल ही निमित्त हैं तथा किन्हीं २ स्कंधों के बनने विगड़ने में जीव भी निमित्त होते हैं। जैसे जलको भाप बनाने में पुद्गल की गर्मी निमित्त है भाप को मेघ बनाने में पवन की ठंडक निमित्त है। फिर मेघ को जल बनाने में पुद्गल की गरमी निमित्त है। किनारे की मिट्टी बहाकर ले जाने में नदी का पानी निमित्त है—वही मिट्टी कहीं जमती रहकर पृथ्वी बन जाती है इसमें पानी का किसी खास स्थान में रुकना निमित्त है ऐसेही बहुत सी अवस्थाएं पुद्गलों में उन्हीं के द्वारा होती रहती हैं। मिट्टी से घट, मकान बनाने, धातुओं से बर्तन बनाने अन्नसे रसोई बनाने आदि कार्योंमें जीवोंके योग और उपयोग का परिणमन भी निमित्त होता है। स्मरण रहे कि इस तरह योग और उपयोग का परिणमन केवल उन्हीं जीवों में होताहै जिनके साथ कर्मों का सम्बन्ध है। शुद्ध जीवों में नहीं होता।

जगत् के भीतर क्रिया होने की ऐसी व्यवस्था है।

सुख और दुःख जो जीवों को होता है उसमें भी पुण्य और पाप कर्म का उदय निमित्त है उनके फल काल में यह जीव मोह करके राग द्वेष करता है इसी से सुख दुःख अनुभव करता है। पुण्य के उदय से उत्तम गति में जाना व उत्तम सामिग्रियों का लाभ व पाप के उदय से

दुर्गति में जाना व बुरी सामिग्रियों का लाभ होता है। इसमें कारण पुद्‌गल कर्मों की अद्‌भुत शक्तियां हैं। जैसे मन्त्रवादी के पढ़े हुए मन्त्रों के प्रभाव से जो प्रभाव किसी देव दानव का नहीं किन्तु शब्दों की अचिन्त्य शक्ति है दूर देश में तिष्ठे हुए मनुष्यों का मन क्षोभित होता और वे खिचकर पास आजाते हैं व जड़ पदार्थ दूर से खिचे हुए चले आते हैं ऐसे ही कर्मों के उदय के प्रभाव से जीव किसी गति में स्वयं चला जाता व सामिग्री खिंच कर इकट्ठी होजाती है। नशे के वेग में मनुष्य विना चाहे हुए भी लुढ़कता पुढ़कता बकता व रोता है इसी तरह कर्मों के फल का प्रभाव जानना चाहिए। पुद्‌गल (जड़) में अपूर्व शक्तियां हैं यह बात आज कल के वैज्ञानिकों ने हवाई विमान व विना तार का तार चलाकर प्रत्यक्ष प्रगट कर दिखाई है।

जीव और पुद्‌गल का अनादि काल से संयोग सम्बंध है। इसी कारण यह आत्मा अशुद्ध अवस्था में परिणमन कर रहा है। जिससे राग द्वेष क्रोध मान माया लोभ वर्तन करते हैं। इसी पुद्‌गल कर्म के सम्बंध से ही इस जीव में शुभोपयोग तथा अशुभोपयोग की आकुलताएं हर समय कभी मंद कभी तीव्र हुआ करती हैं। मोह कर्म के सम्बंध में संसारी प्राणी की बुद्धि में जीव और पुद्‌गल की भिन्नता नहीं झलकतीहै इससे वह क्रोध मान, माया, लोभ, को ही आत्मा का स्वभाव समझता है तथा जो सुख और शांति आत्मा का स्वभावहै उसका अनुभव नहीं कर सकताहै। पुद्‌गल के स्वभाव को अपना स्वभाव समझना ही मिथ्यात्व है। इसी मिथ्या भ्रम बुद्धि के कारण यह आत्मा अपने स्वरूप को न समझ अपने आत्मा से भिन्न पर पदार्थों को तथा जगत के इन्द्रियविषय के पदार्थों को अपना इष्ट समझ कर उनसे मोह करता है जिससे राग द्वेष की तीव्रता रहती है। इसी तीव्रता के कारण यह आत्मा बहुत कर्मों का बंध करता है। जिस फल से या असर से इस जगत में एक गति से दूसरी गति में भ्रमण करता हुआ संसार में इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट संयोग आदि नाना प्रकार शारीरिक तथा मानसिक दुःखों को भोगता है।

आत्मा का जो स्वभाव है वह इन कर्मों के सम्बंध से प्रकट नहीं होरहा

है इसमें आत्मा की शोभा नहीं है वास्तव में हरएक वस्तु अपने स्वभाव में रही हुई ही शोभा को प्राप्त होती है। सुवर्ण और मणि की शोभा उसकी शुद्धता तथा निर्दोषता ही में है। मैला सुवर्ण तथा दोषी मणि कभी भी शोभा को नहीं प्राप्त होते हैं। इसी से अनेक तीर्थंकर, चक्रवर्ती महाराजा सेठ आदि विचारशील पुरुषों ने अपने आत्मा को शुद्ध करने अर्थात् कर्मों से मुक्त करने का उपाय किया और आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण स्वरूप जो आत्मानुभव व आत्मज्ञान उसको आलम्बन कर सर्व कर्मों से रहित हो शुद्ध अवस्था का लाभ किया—तब सदा के लिये भवभ्रमण, सांसारिक दुःखजाल व कर्मबन्धन तथा रागादि दोषों से मुक्ति प्राप्त करके अपने आत्मिक आनन्द के भोग का निरन्तर उदय पा लिया—अर्थात् परमात्मा अवस्था के अनुपम पद को प्राप्त कर लिया।

अनेक ऋषियों ने इसी मार्ग को आत्मा के सुख का उपाय निश्चित कर इसी का उपदेश भव्य आत्माओं को दिया। परमयोगी श्रीपूज्यपाद स्वामी ने भी इसी हेतु से यह उद्यम बांधा है। आत्मा का स्वरूप अपनी समझ में आकर उस में अपनी श्रद्धा जम जावे इस लिये सर्व से सुगम उपाय यह है कि आत्मा का मुख्य लक्षण तथा गुण को समझ लिया जाय। आत्मा में जितने विशेष गुण हैं उन में चेतना, शांति, और आनन्द ये तीन अतिशय जरूरी हैं। इन तीन गुणों का निश्चय हो जाने से आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान हो जाता है।

यदि कोई शांति से विचार करेगा तो उसको इन तीनों गुणों का अनुभव हो जायगा। चेतना के काम जो जानना व समझना है सो तो प्रत्यक्ष प्रगट ही है। शांति आत्मा का स्वभाव है इसका निश्चय उस अनुमान से होगा कि चेतना की निर्मलता और शांति का एक साथ रहना व काम होना संभव है जब कि क्रोध का ज्ञान के साथ रहना ज्ञान के कार्य में बाधक है। क्रोध ज्ञान को अविचार कर देता है। क्रोधावस्था में ज्ञान का मनन नहीं होता जब कि क्रोधाभाव अर्थात् शांति में होता है। क्रोध के होने पर शरीर असुंदर व असुहावना होता जबकि शांति के होने पर असुंदर शरीर भी सुहावना लगता है। शांति आत्मा का स्वभाव है इस में कोई सन्देह नहीं।

इसी तरह सुख भी आत्मा का स्वभाव है। यदि ऐसा न होता तो परमात्मा में शरीरादि न रहते भी अनन्तसुख नहीं कह सकते। जब आत्मा अपने स्वरूप के सच्चे ज्ञान के साथ इतनी शांति रक्खे कि उपयोग को आत्मा से बाहर न जाने दे तब इसे स्वयं सुख का अनुभव आ जायगा। जहां ज्ञान और शांति होती है वहां सुख भी अवश्य पाया जायगा। यह बात आत्मानुभवी भले प्रकार जानते हैं।

संसार में सुख इन्द्रियजनित है या अतीन्द्रियजनित है। परोपकारी पुरुषों को अपने स्वार्थ बिना दूसरे का उपकार करते हुए जो सुख मालूम होता है वह सुख मोह के घटाव से प्रगट होता है—यही अतीन्द्रिय सुख का चिन्ह है। थोड़े दिन आत्मा के अभ्यास से चेतना, शांति और सुख आत्मा में ही है ऐसा अच्छी तरह अनुभव होजाता है। आत्मा या पुद्गल सर्व ही द्रव्यों में गुण इतने हैं कि उनका ज्ञान सिवाय सर्वज्ञ के दूसरों को नहीं हो सक्ता। जो अल्पज्ञानी हैं वे पदार्थों के थोड़े से गुण जान कर एक वस्तु को दूसरे से भिन्न जान सकते हैं। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल से आत्मा को भिन्न पहिचानने के लिये यह जानना ज़रूरी है कि यह आत्मा चैतन्य-स्वरूप, शांतिमय अर्थात् क्रोधादि विकार रहित, आनन्दमयी, अमूर्तीक, अपने असंख्यात प्रदेशों को रखते हुए भी शरीर में शरीराकार है। परमात्मा सिद्ध भगवान् जैसे निर्मल निरंजन निर्विकार हैं ऐसा ही हमारे शरीर में विराजमान आत्मा है। जैसा कि श्रीदेवसेन आचार्य ने तत्त्वसार में कहा है—

गाथा-जस्स ण कोहो माणो मायालोहो य सल्ल लेसाओ।
जाइजरामरणं विय णिरंजणो सो अहं भणिओ॥१६॥
णत्थिकला संठाणं मग्गण गुणठाण जीवठाणाइं।
णइ लद्धि बंधठाणा णोदय ठाणाइया केई ॥ २० ॥
फास रस रूव गंधा सद्दादीया य जस्स णत्थि पुणो।
सुद्धो चेयण भावो णिरंजणो सो अहं भणिओ॥२१॥

मलरहिओ णाणमओ णिवसइ सिद्धीए जारिसोसिद्धो।
तारिसओ देहत्थो परमो बंभो मुणेयव्वो ॥ २६ ॥
णोकम्मकम्म रहिओ केवल णाणाइगुण समिद्धोजो।
सोहं सिद्धो सुद्धो णिच्चो एक्को णिरालंबो ॥ २७ ॥
सिद्धोहं सुद्धोहं अणंत णाणाइगुण समिद्धोहं।
देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तोय ॥ २८ ॥

भावार्थ—जिसके न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है, न शल्य है, न लेश्या है, न जन्म है, न जरा है, न मरण है—वही निरंजन कहा गया है सोही मैं हूं। न जिसके औदारिकादि ५ शरीर हैं, न समचतुरस्रादि ६ संस्थान हैं, न गतिइंद्रिय आदि १४ मार्गणा हैं, न मिथ्यात्वादि १४ गुणस्थान हैं, न जीवस्थान अर्थात् एकेन्द्रियादि १४ जीव समास हैं, न कर्मों के क्षयोपशम से होनेवाले लब्धिस्थान हैं, न कर्मों के बंधस्थान हैं, न कोई उदयस्थान हैं, न जिसके कोई स्पर्श, रस, वर्ण, गंध, शब्द आदि हैं परन्तु जो शुद्ध चैतन्य स्वरूप है सोही निरंजन है सोही मैं हूं। कर्मादि मल से रहित ज्ञानमयी सिद्ध भगवान जैसे सिद्धक्षेत्र में निवास करते हैं वैसे ही मेरी देह में स्थित परमब्रह्म को समझना चाहिये। जो नोकर्म और कर्म से रहित केवल ज्ञानादि गुणों से पूर्ण, शुद्ध, अविनाशी, एक, आलम्बनरहित, स्वाधीन सिद्ध भगवान हैं सो ही मैं हूं। मैं ही सिद्ध हूं, शुद्ध हूं, अनन्तज्ञानादि गुण से परिपूर्ण हूं, अमूर्तीक हूं; नित्य हूं, असंख्यात प्रदेशी हूं और देह प्रमाण हूं इस तरह अपनी आत्मा को सिद्ध के समान वस्तु स्वरूप की अपेक्षा जानना चाहिये। जो कर्म संयुक्त होने से इस संसारी आत्मा के गति, इंद्रिय आदि होती हैं, व मिथ्यात्व से लेकर अयोगी पर्यंत गुणों की श्रेणियां होती हैं अथवा कर्मों के तीव्र या मन्द उदय से परिणामों की अनेक अवस्थाएं होती हैं उन सब का कारण कर्मों का विकार है इस लिये ये सब अवस्थाएं आत्मा के स्वभावरूप हैं ऐसा नहीं कह सकते। जैसे सिद्धोंके गुणस्थानादि नहीं हैं वैसे स्वरूप की अपेक्षा इस आत्मा के नहीं है। निश्चय के ज्ञाता श्री अमृतचंद्र आचार्य ने भी यही कहा है:—

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमीनोदृष्टाःस्युर्दृष्टमेकं परंस्यात्॥५॥
वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य ततो
ऽस्त्विदंपुद्गल एव नास्मि यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः॥७॥

भावार्थ—ये वर्ण रस गंध स्पर्शादि भाव या राग द्वेष मोहादि भाव ये सब इस आत्मा से भिन्न भाव हैं इसी से जब तत्त्वदृष्टि से या निश्चय नय से अन्तरंग में देखते हैं तो ये कोई भी नहीं दीखते वहां तो केवल एक उत्कृष्ट आत्मा ही दिखता है। ये वर्णादि से लेकर गुणस्थान पर्यंत जितनी सामग्री हैं उनकी रचना पुद्गल के द्वारा होती है ऐसा जानो इस लिए यह सब पुद्गल ही हैं आत्मा नहीं है क्योंकि वह तो विज्ञानस्वरूप है इसी लिए इन से अन्य है।

जल में चाहे एक कीणका मात्र भी रंग हो पर वह रंग जल का नहीं किन्तु रंग का ही है इसी तरह आत्मा में अपनी शुद्ध असली अवस्था में कुछ भी अति सूक्ष्म भी विकारता हो वह विकारक पुद्गल की है आत्मा की नहीं—इस तरह जिस ने आत्मा को अन्य आत्माओं से व पुद्गलादि पांच द्रव्यों से व कर्मोदय के निमित्त से होने वाले विकारों से भिन्न परम शुद्ध सिद्ध समान जाना है तथा आत्मा के सिवाय जो अनात्मा या पर है उसको अनात्मा या पररूप जाना है अर्थात् पुद्गल के गुण पर्याय को पुद्गल रूप तथा धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल को उनके असल स्वरूप जाना है तथा ऐसा ही निश्चय किया है उस को सम्यग्दृष्टि, तत्त्वज्ञानी या महात्मा कहते हैं उस के भेद ज्ञान रूपी कला अर्थात् चतुराई ऐसी प्रगट होती है कि पुद्गल मिश्रित आत्मा को क्षीर पानी के समान मिला देख कर भी विचारके बल से आत्मा को आत्मा रूप और पुद्गल को पुद्गल रूप देख लेता है। इसी भेद ज्ञान के बल से यह ज्ञानी अपने उपयोग को शुद्ध आत्मा के अनुभव में जोड़ने का अर्थात् आत्मध्यान करने का अभ्यास करता है। इसी अभ्यास के बल से उसके कर्म मल घटते रहते और वह एक दिन अक्षय

अनंत केवल ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। अरहंत होकर आयु प्रमाण जीवन्मुक्त अवस्था में रहता है फिर सर्व पुद्गलों से रहित हो परम शुद्ध सिद्ध भगवान होजाता है। यहां श्री पूज्यपाद स्वामी ने इन्हीं सिद्ध आत्मा को नमस्कार किया है। यहां केवल ज्ञान प्रगट होगया ऐसा कहने से केवल दर्शन, अनन्त वीर्य, अनंत सुख, क्षायिक सम्यक्त आदि सर्व गुणों की प्रकटता को समझ लेना चाहिये जो उस दशा में केवल ज्ञान के साथ प्रगट होजाते हैं। सर्व से पहले अरहंत को नमस्कार न करके जो सिद्ध भगवान को नमस्कार किया है उस का भाव यही है कि पूज्यपाद महाराज को सिद्ध स्वरूप प्राप्ति की अतिशय भावना है। यह लोक का नियम है कि जो जिस गुण का अर्थी है वह उस गुण वाले की विनय करता है जैसे धनुप विद्या सीखने का अर्थी धनुपविद्या विशारद की सेवा करता है।

नमस्कारके दो भेद हैं एक द्रव्यनमस्कार दूसरा भावनमस्कार। जिसको नमस्कार किया जाय उस के गुणों में अपने उपयोग को जोड़ना सो भाव नमस्कार है तथा उसकी प्रकटता वचन व काय से करना सो द्रव्य नमस्कार है। यहां अनुभव के अर्थी आचार्य ने वचनों से श्लोक पढ़ते हुए व अंग को नमाते हुए सिद्ध के गुणों में भी जाकर जो आत्मानुभव प्राप्त किया है व अपूर्व सुख शांति का लाभ किया है सो ही भाव नमस्कार है। इस श्लोक में आधे पद से सिद्ध स्वरूप की प्राप्ति का उपाय बताया गया और दूसरे आधे पद से उस का फल बताया गया—

दूसरे श्लोक की उत्थानिका—इस तरह कहे हुए सिद्ध स्वरूप को व उस की प्राप्ति के उपाय को उपदेश करने वाले जो सकलात्मा अर्थात् शरीर सहित अरहंत परमेष्ठी हैं उनकी स्तुति करते हुए श्री पूज्य पाद भगवान कहते हैं—

जयन्ति यस्याऽवदतोऽपि भारती
विभूतय स्तीर्थकृतोऽप्यनीहितुः।
शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे
जिनाय तस्मै सकलात्मनेनमः ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(अवदतः अपि) तालु ओष्ठ से हम लोगों के समान न बोलते हुए भी (अनीहितुः अपि) तथा विना किसी प्रकार की इच्छा रखते हुए भी (यस्य) जिस (तीर्थकृतः) तीर्थंकर की (भारती-विभूतयः) वाणी रूपी विभूतियें (जयन्ति) जयवन्त हैं (तस्मै) उस (शिवाय) परम कल्याणमयी (धात्रे) सन्मार्गोपदेशक, (सुगताय) सम्यग्ज्ञान रूप, (विष्णवे) ज्ञानापेक्षा सर्वव्यापक, (जिनाय) कर्मों को जीतने वाले (सकलात्मने) सकल परमात्मा अर्थात् अर्हन्त को (नमः) नमस्कार होहु।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने दिगम्बराम्नायानुसार शरीर सहित केवल ज्ञानी अर्हत का स्वरूप बतलाया है। उसमें पहले यह जनाया है कि वह अर्हंत हम लोगों के समान तालु ओष्ठ से नहीं बोलते किन्तु उनकी दिव्य ध्वनि मेघ की गर्जना के समान अनक्षरी होती है उसमें किसी भाषा के अक्षर नहीं होते। अरहंत के मोह का सर्वथा नाश होगया है इसलिये किसी प्रकार की इच्छा करके कि मैं वचन बोलूं उनके वचन नहीं निकलते। इसीलिये उनको इच्छा रहित भी कहा है। अरहंत अपने स्वरूप में तन्मयी हैं उनके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान भी नहीं है-हमारे समान उनके विचार होवे यह बात वहां सम्भव नहीं है। विना इच्छा के ध्वनि का निकलना किसी तरह असम्भव नहीं है। हम लोगों को भी इस बात का अनुभव है कि जिस पाठ की हम को पढ़ने की आदत हुआ करती है वह पाठ अपना उपयोग दूसरी तरफ होने पर भी हमारे मुख से निकला करता है तथा सोते हुए बहुत से लोगों के मुख से वचन विना इच्छा के निकला करते हैं और ये वचन प्रायः वैसे ही होते हैं जिन का अभ्यास बोलने का रहा करता है। हमारे शरीर में बहुत सी क्रियाएं हमारी इच्छा विना हुआ करती हैं जैसे आंखों का फड़कना, सर में दर्द हो उठना, छाती का धड़कना, जंभाइयों का आना, विना इच्छा के ही चलते २ अभ्यस्त मार्ग पर पैरों का उठकर चले जाना। जैसे हम लोगों की बहुत सी वचन व काय की क्रियाएं विना इच्छा के हो जाती हैं इसी तरह केवली भगवान की वचन प्रवृत्ति अर्थात् दिव्य ध्वनि तथा उनका विहार आदि विना इच्छा के हो जाता है।

प्रश्न यह होगा कि बिना इच्छा के वाणी खिरती क्यों है ? उसका समाधान यह है कि अरहंत के ऐसे कर्मों का उदय है जिससे वचन व काय योग चलता है तथा उनके ऐसा वर्तन होने में निमित्त कारण भव्य जीवों के पुण्य का उदय है। जैसे पुण्यवान् किसानों के खेतों में मेघों के ऊपर आजाने से वर्षा होती है अपुण्यवानों के खेतों में नहीं, चाहे वे निकट ही हों वैसे पुण्यवानों के देशों में तीर्थंकर का विहार होता और उनकी दिव्य ध्वनि का लाभ होता है। जगत् में बहुत से कार्य परस्पर निमित्त से होते हैं जैसे सूर्य के उदय से कमलों का खिल जाना, चन्द्रकला की वृद्धि से समुद्र की वृद्धि होना, मन की उदासीनता से शरीर का बलहीन हो जाना अग्नि के निमित्त से भोजन का पक जाना, उष्णता के सम्बन्ध से जल का भाप हो जाना, आम्र वृक्ष के निमित्त से कोयल का बोलना आदि। ऐसे ही भव्य जीवों के पुण्य कर्म के बल के असर से वाणी खिर जाती है। बहुधा ऐसा देखा जाता है कि किसी सभा में जैसे श्रोता होते हैं वैसा व्याख्यान व्याख्याता के द्वारा हो जाता है। श्रोताओं के निमित्त से वक्ता का वचन धारावाही निकला चला जाता है। वक्ता के ऐसे व्याख्यानों में यद्यपि उसकी बुद्धि बल की प्रेरणा होती है तथापि बहुत सी वचन वर्गणाएं सम्बन्ध से स्वयं निकल पड़ती हैं। इस तरह इस में भी कोई असम्भवता नहीं दीखती है अर्हंत की वाणी मेघध्वनि के समान निकल कर उनके अतिशय के प्रभाव से श्रोताओं की भाषा के अनुकूल परिणमन कर जाती है जिससे भिन्न २ देशों के मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सब अपनी २ भाषा में उसे समझ लेते हैं।

संसार समुद्र से तिरने का उपाय सो तीर्थ है अर्थात् धर्म मार्ग को तीर्थ कहते हैं इस मार्ग को जो फैलाते हैं उन को तीर्थंकर कहते हैं। यह सामान्य अर्थ है। विशेष भाव यह है कि तीर्थंकर नाम का एक नाम कर्म है उसका उदय जिन महा पुरुषों के होता है उनही तीर्थंकर कहते हैं—यद्यपि सामान्य केवली भी धर्मोपदेश करते हैं परन्तु वे तीर्थंकर इस लिये नहीं कहलाते कि उनके तीर्थंकर नाम कर्म की प्रकृति का उदय नहीं है तीर्थंकर प्रकृति के उदय के निमित्त से तीर्थंकर के इंद्रादि देव समव शरण की रचना करते

विक्रम संवत् ४९ के अनुमान होने वाले परम अनुभवी और तत्त्वज्ञानी, वीतरागी योगीश्वर श्री कुंद कुंद महाराज ने अपने श्रीप्रवचनसारग्रंथ में नीचे लिखी गाथा से यही बात कही है।

गाथा—ठाण णिसेज्ज विहारा धम्मुवदेसो य णियदयोतेसिं।
अरहंताणं काले मायाचारोव्व इच्छीणं ॥ ४४ ॥

सं० टीका—स्थानमूर्ध्वस्थितिर्निषद्या चासनं विहारो धर्मोपदेशश्च एते व्यापारा नियमयः स्वभावा अनीहिताः तेषां अर्हतां अर्हद्वस्थायां क इव मायाचार इव स्त्रीणामिति। तथाहि। यथा स्त्रीणां वेदोदयसद्भावात् प्रयत्नाभावेऽपि मायाचारः प्रवर्तते तथा भगवतां शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतमोहोदयकार्येहापूर्व प्रयत्ना भावेपि श्री विहारादयः प्रवर्तन्ते मेघानां स्थानगमनगर्जनजल वर्षणादिवद्धा।

भावार्थ—केवलियों के खड़ा होना, बैठना, विहार, धर्मोपदेश सब स्वभाव से विना इच्छा के होते हैं क्योंकि इन के शुद्धात्मतत्त्व से विपरीत मोहनी कर्म के उदय का कार्य जो इच्छा उसका अभाव है। जैसे स्त्रियों के स्वभाव से ही मायाचार रहता है। अथवा मेघों का घूमना, गर्जना, बर्षना, जैसे होता है। श्री नियमसार जी में भी स्वामी कुंद कुंदाचार्य्य ने ऐसा कहा है।

ठाण णिसेज्ज विहारा ईहा पुव्वं ण होइ केवलिणो।
तह्मा णहोइ बंधो साकट्ठं मोहनीयस्य ॥ १७४ ॥

भावार्थ—खड़े होना, बैठना, विहार केवली भगवान के इच्छा पूर्वक नहीं होता, मोहसहित जीव के इन्द्रियों के प्रयोजन सहित होने से बंध होता है।

प्रश्न यह होगा कि बिना इच्छा के वाणी खिरती क्यों है ? उसका समाधान यह है कि अरहंत के ऐसे कर्मों का उदय है जिससे वचन व कार्य योग चलता है तथा उनके ऐसा वर्तन होने में निमित्त कारण भव्य जीवों के पुण्य का उदय है। जैसे पुण्यवान् किसानों के खेतों में मेघों के ऊपर आजाने से वर्षा होती है अपुण्यवानों के खेतों में नहीं, चाहे वे निकट ही हों। वैसे पुण्यवानों के देशों में तीर्थंकर का विहार होता और उनकी दिव्य ध्वनि का लाभ होता है। जगत् में बहुत से कार्य परस्पर निमित्त से होते हैं जैसे सूर्य के उदय से कमलों का खिल जाना, चन्द्रकला की वृद्धि से समुद्र की वृद्धि होना, मन की उदासीनता से शरीर का बलहीन हो जाना अग्नि के निमित्त से भोजन का पक जाना, उष्णता के सम्बन्ध से जल का भाप हो जाना, आम्र वृक्ष के निमित्त से कोयल का बोलना आदि। ऐसे ही अन्य जीवों के पुण्य कर्म के बल के असर से वाणी खिर जाती है। बहुधा ऐसा देखा जाता है कि किसी सभा में जैसे श्रोता होते हैं वैसा व्याख्यान व्याख्याता के द्वारा हो जाता है। श्रोताओं के निमित्त से वक्ता का वचन धारावाही निकला चला जाता है। वक्ता के ऐसे व्याख्यानों में यद्यपि उसकी बुद्धि बल की प्रेरणा होती है तथापि बहुत सी वचन वर्गणाएं सम्बन्ध से स्वयं निकल पड़ती हैं। इस तरह इस में भी कोई असम्भवता नहीं दीखती है अर्हंत की वाणी मेघध्वनि के समान निकल कर उनके अतिशय के प्रभाव से श्रोताओं की भाषा के अनुकूल परिणमन कर जाती है जिससे भिन्न २ देशों के मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सब अपनी २ भाषा में उसे समझ लेते हैं।

संसार समुद्र से तिरने का उपाय सो तीर्थ है अर्थात् धर्म मार्ग को तीर्थ कहते हैं इस मार्ग को जो फैलाते हैं उन को तीर्थंकर कहते हैं। यह सामान्य अर्थ है। विशेष भाव यह है कि तीर्थंकर नाम का एक नाम कर्म है उसका उदय जिन महा पुरुषों के होता है उनही तीर्थंकर कहते हैं—यद्यपि सामान्य केवली भी धर्मोपदेश करते हैं परन्तु वे तीर्थंकर इस लिये नहीं कहलाते कि उनके तीर्थंकर नाम कर्म की प्रकृति का उदय नहीं है तीर्थंकर प्रकृति के उदय के निमित्त से तीर्थंकर के इंद्रादि देव समव शरण की रचना करते

और धर्मोपदेश प्रचार के लिए बड़ी भारी बाहरी प्रभावना करते हैं। यहां पर तीर्थंकर शब्द कहने से स्वामी पूज्यपाद ने अपनी भक्ति का ऋषभदेव से लेकर श्री महावीरस्वामी पर्यंत २४ तीर्थंकरों में प्रगट की है। ऐसे तीर्थंकर की वाणी जयवंत हो ऐसा कहने से आशीर्वादसूचक मंगलाचरण कर के ग्रन्थकर्ता ने अपनी हार्दिक विनय की है। आचार्य के हृदय का यह भी भाव है कि जिस जिन वाणी के प्रताप से हमको सिद्ध का व सिद्धस्वरूप की प्राप्ति के उपाय का ज्ञान हुआ तथा उस ज्ञान से अपना अनादि मोह और अज्ञान दूर हुआ है और स्वरूप के लाभ होने से जो सुख शांति का अनुभव हुआ है वे संसार से पार होने का गाढ़ निश्चय हुआ है। उस जिन वाणी का पठन पाठन, मनन सदा ही जारी रहे जिससे दूसरे नर नारी भी अंधकार से प्रकाश में आवे।

ऐसे तीर्थंकर को ही आचार्य ने सच्चा शिव, सच्चा विधाता या ब्रह्मा, सच्चा सुगत या बुद्ध, व सच्चा विष्णु कहा है।

जगत में कोई मनुष्य रुद्र की भक्ति करके उस को शिव कहते हैं जैसे आजकल देखने में आता है कि शिवके भक्त शिवालयों में अर्घा और पिंड की मूर्ति स्थापित कर के उसे शिव मान पूजते हैं आचार्य ने बताया है कि जिसको स्वात्मा से उत्पन्न अतीन्द्रिय आनंद का लाभ हुआ है तथा जो परम सुखमई मोक्ष के सुख में वर्तता है वही शिव है—क्योंकि यह बात तो तीर्थंकर ही भगवान में प्रगट है इससे उन्हीं को शिव माना है। जग के लोग जगत के रचने वाले किसी ब्रह्मा को विधाता कह कर के पूजते हैं। आचार्य ने कहा है कि यह जगत तो अनादि अनंत अकृत्रिम है इसका कोई रचने वाला नहीं परन्तु जिसने सर्व जनों के उद्धार के लिए सच्चा मोक्ष मार्ग बताया है वही रचना कर्ता विधाता है। क्योंकि तीर्थंकर में यह गुण प्रगट है इस लिए विधाता या ब्रह्मा तीर्थंकर भगवान ही हैं। बौद्धमती पदार्थ के सर्वथा क्षणिक कहने वाले वसुधारी गौतमबुद्ध का सुगत का नाम देकर पूजते हैं आचार्य ने कहा है कि जब वस्तु सर्वथा क्षणिक नहीं किन्तु नित्यानित्यात्मक है अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा नित्य और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है तब यथार्थ ज्ञाता बुद्ध नहीं होसकते किन्तु तीर्थंकर भगवान ही यथार्थ ज्ञाता अर्थात् सुगत हैं क्योंकि शोभायमान गतः अर्थात् ज्ञान

जिसका हो उसे सुगत कहते हैं। भगवान सम्यग्ज्ञानी हैं अतएव वे ही सच्चे सुगत हैं। वैष्णव लोग सर्वव्यापक किसी ईश्वर पालनकर्त्ता को विष्णु मान कर पूजते हैं तथा विष्णुमंदिरों में उनको वस्त्र भूषणों से सज्जित राधिका रानी को लिए हुए ऐसी मूर्ति बनाते हैं आचार्य कहते हैं कि सच्चा विष्णुपना यहां नहीं है क्योंकि जो संसारी राजाओं की भांति प्रजा का पालन करता है, वह सच्चिदानन्दमयी, योगीश्वर तथा स्वात्मानुभवी, समदर्शी वीतरागी, सार्वाभूत, निर्विकार तथा कृतकृत्य नहीं होसकता तथा गृहस्थ की मूर्ति परिणामों में वैराग्य नहीं ला सकती अतएव यह स्वरूप विष्णु का ठीक नहीं है। विष्णु सर्वव्यापक को कहते हैं। क्योंकि केवलज्ञान सर्व ज्ञेयों को जानता है। अर्थात् कोई भी वस्तु केवलज्ञान से बाहर नहीं रहती इस दृष्टि से केवल ज्ञान को सर्व व्यापक कहते हैं। क्योंकि तीर्थंकर भगवान् के केवलज्ञान विद्यमान है। इस से वे ही सर्वव्यापक अर्थात् सच्चे विष्णु हैं। फिर आचार्य ने अर्हंत भगवान् को जिन की संज्ञा दी है। इस आत्मा का मुख्य वैरी दर्शनमोह है तथा गौणरूप चारित्रमोह, ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी तथा अंतराय कर्म हैं। तीर्थंकर भगवान् ने सब से पहले चौथे गुणस्थानमें दर्शनमोह को जीता बारहवें चारित्रमोह को फिर तेरहवें गुणस्थान में शेष घातियां कर्मों को जीत लिया इस से तीर्थंकर भगवान आत्मा के वैरियों को जीत लेने से साक्षात् जिन हैं। सकलात्मा कहने से आचार्य ने बतलाया है कि वह तीर्थंकर भगवान् जिन की वाणी प्रगट होती है शरीर रहित नहीं हैं किन्तु शरीरसहित हैं, क्योंकि वाणी जड़ रूप पौद्गलिक है इस लिये जो निराकार अमूर्तीक होगा उसके द्वारा जड़ रूप, वचनों का प्रगट होना सर्वथा असम्भव है। इस लिये धर्मोपदेश प्रगटकर्त्ता निराकार परमात्मा या सिद्ध नहीं हो सकता किन्तु सशरीरी जीवन्मुक्त अरहंत ही होगा। ऐसा कहने से यह भी आशय झलकता है कि जो लोग अपने धर्मग्रन्थों को निराकार ईश्वर द्वारा प्रगट हुआ ऐसा कहते हैं उनका कथन युक्ति में नहीं बैठता है।

अरहंत भगवान् के परम औदारिक परम शुद्ध निर्मल शरीर होता है जिसके भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी नहीं लगती, जिस में पसीना आदि कोई,

मैल नहीं होता। अरहन्त भगवान का शरीर चहुंओर से आने वाली नो कर्म वर्गणाओं से उसी तरह पुष्ट होता है जिस तरह एकेन्द्री पृथ्वी कायिक पत्थरों व वनस्पति कायिक वृक्षों का औदारिक शरीर इधर उधर के परमाणुओं से ही पुष्ट होता तथा बढ़ता है। भगवान को भूख प्यास की वेदना हम लोगों के समान नहीं होती क्योंकि उन के अनंतबल होने से व इच्छा का सर्वथा अभाव होने से व मोह के नष्ट कर देने से तथा इन्द्रियों का व्यापार न होने से हम लोगों से विलक्षणता है।

इस तरह आचार्य ने परमानंद का मार्ग बताने वाले श्री अरहन्त परमेष्ठी को नमस्कार करके अपनी भक्ति प्रगट की है तथा उन के कहे हुए मोक्ष मार्ग में गाढ़ प्रेम का परिचय दिया है। तथा भव्य जीवों को भी इसी तरह विनय, भक्ति व प्रेम करना चाहिये ऐसा सूचित किया है।

तीसरे श्लोक की उत्थानिका—सिद्ध तथा अरहंत को नमस्कार रूप मंगलाचरण करके अब आचार्य अपनी ज्ञानशक्ति को दिखाते हुए आत्मा के स्वरूप कहने की प्रतिज्ञा करते हैं।

श्लोकः—

> श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्ति
> समाहितान्तः करणेन सम्यक्।
> समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां
> विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(अथ) अब नमस्कारके पीछे में (श्रुतेन) शास्त्रके द्वारा, (लिंगेन) अनुमान रूप युक्ति के द्वारा, (समाहित अंतःकरणेन) तथा एकाग्र मनके द्वारा, (सम्यक्) भले प्रकार (समीक्ष्य) जान करके तथा अनुभव में लेकर के (कैवल्यसुखस्पृहाणां) अतीन्द्रिय आनन्द की वांछा करने वालों के लिये (विविक्तम्) सर्व से भिन्न (आत्मानम्) आत्मा के

स्वरूप को (यथात्मशक्ति) अपनी शक्ति के अनुसार [अभिधास्ये] कहूंगा।

भावार्थ—यहां पर स्वामी पूज्यपादने अपने को आत्मा का ज्ञान किस तरह हुआ है इस बात को उचित रीति से बताया है। किसी नई बात का ज्ञान होने के लिये मुख्यता से तीन प्रकार होते हैं। पहले तो उस बात को किसी पुस्तक से या किसी के मुख से जाना जाय, फिर उसको न्याय की युक्ति से बुद्धि द्वारा तौला जाय और फिर एकान्त में बैठ कर अपने मन से सोच कर उस बात को पक्का किया जाय कि उस में कोई प्रकार की शंका न रहे। इसी तरह यहां आचार्य ने पहले तो शास्त्रों के द्वारा आत्मा के स्वरूप को जाना जैसा कि कुंद कुंद महाराज ने श्री नियमसार जी तथा श्री समयसार जी में आत्मा का ऐसा स्वरूप बताया है:—

गाथा—एको मे सासदो आदा णाणदंसण लक्खणो।
सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥
अहमिक्को खलुसुद्धो दंसण णाण मइओसदारुवी।
णवि अत्थि मम किंचिविअण्णं परमाणुमित्तंपि।३८

अर्थात्—मेरा आत्मा एक अकेला अविनाशी, ज्ञान दर्शन लक्षण को रखने वाला है तथा शेष मेरे स्वरूप से बाहर जितने रागद्वेषादि भाव हैं वे संयोग से उत्पन्न हुए हैं तथा मैं एक अकेला हूं, शुद्ध हूं, दर्शनज्ञानमयी हूं, अरूपी हूं, निश्चयकार सदाकाल ऐसा हूं अन्य पर द्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा कुछ नहीं है। शास्त्र के द्वारा आत्मा का लक्षण व स्वरूप भले प्रकार द्रव्यानुयोग व करणानुयोग के ग्रंथों से संग्रह कर, फिर उसी लक्षण को अनुमान की युक्ति से इस तरह विचार किया कि शरीरादि से आत्मा भिन्न हैं क्योंकि उनका लक्षण भिन्न २ है। जिन २ का लक्षण भिन्न २ होता है उन पदार्थों का भेद होता है जैसे जल और अग्नि, जल शीतल है, अग्नि उष्ण है। आत्मा और शरीर का भिन्न २ लक्षण प्रगट है। असिद्ध नहीं है क्योंकि आत्मा का लक्षण उपयोग स्वरूप है अर्थात् जानना, देखना

है तथा शरीरादि जड़ पदार्थों का लक्षण अनुपयोग है अर्थात् कुछ नहीं जानना है। जबतक आत्मा हमारे शरीर में रहता है तबतक ही हम इंद्रियों से या मन से जान सकते हैं- आत्मा के चले जाने पर चक्षु आदि इंद्रियों के होने पर भी कुछ भी बोध नहीं होता- आत्मा का लक्षण चेतना सर्वथा अबाधित है-इसमें अव्याप्ति अतिव्याप्ति तथा असंभव दोष नहीं है। क्योंकि चेतनपना सर्व संसारी तथा सिद्ध आत्माओं में है यदि किसी एक में भी न होता तो अव्याप्ति दोष आजाता, चेतनपना सिवाय आत्मा के अन्य पुद्गलादि पांचों द्रव्यों में नहीं है इसलिये अतिव्याप्ति दोष भी नहीं है। चेतनपने का कार्य हम कर रहे हैं इसमें यह चेतनपना असंभव भी नहीं है। इसतरह युक्तिके द्वारा आत्मा का निर्णय किया फिर उस आत्मा को एकाग्र मन करके विचार किया अर्थात् जब शास्त्र से व युक्ति से यह मालूम हुआ कि आत्म ज्ञान दर्शनमयी अमूर्तीक असंख्यात प्रदेशी शरीर में विराजित शुद्ध स्फटिक के समान परम निर्मल राग द्वेषादि विकारों से रहित सिद्ध सम परमानंद रूप है तब अपने भीतर अपने उपयोग को करके सर्व परद्रव्य तथा परभावोंसे उपयोगको हटाकर श्रद्धा में आए हुए आत्मस्वरूप का मनन किया व अनुभव किया तब अतींद्रिय आनन्द भासा इसतरह स्वानुभव से आत्मा का पक्का निर्णय प्राप्त किया-इसप्रकार तीन तरह आत्मा को भलेप्रकार अर्थात् संशय, विपर्यय व अनध्यवसाय रहित जान करके तथा अनुभव करके स्वामी पूज्यपाद ने बताया है कि मेरा कथन वही होगा जो मैंने अनुभव से समझा है- अपने कथन का प्रमाणीकपना कहकर आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं शुद्ध आत्मा का स्वरूप कहूंगा जिससे शिष्यों को सर्व परद्रव्य, परभाव व परद्रव्य के निमित्त से होने वाले अपने भावों से भिन्न शुद्ध आत्मा का बोध होजाय। यह प्रयास आचार्यने इसलिये किया है कि इस जगत में बहुत से मानवों को इंद्रिय सुखोंसे तृप्ति नहीं होती, व उनकी आकुलता नहीं मिटती तब वे निराकुल सुख की वांछा करते हैं ऐसे निराकुल आत्मा से उत्पन्न सुख की चाहना करने वालों को आत्मा का ज्ञान होजाय तब वे आत्मा को जान करके स्वयं अतीन्द्रिय सुख व शांति को प्राप्त करेंगे।

इस श्लोक से आचार्यने यह भी ध्वनि निकाली है कि जिनको इंद्रिय सुखों की तृष्णा है उनके लिये इस ग्रंथ का पढ़ना कार्यकारी न होगा

किंतु जो सच्चे सुख के इच्छुक हैं व शांति को चाहते हैं उन्हें इस ग्रंथ को भलेप्रकार समझना चाहिये। तथा समझकर जैसे आचार्यने आगमद्वारा जान युक्ति से विचार व स्वानुभव में पक्का समझा उसीतरह युक्ति से विचार स्वानुभव से आत्मा का निर्णय करना चाहिये तब उनको आत्मज्ञान होगा तथा सुख शान्ति का लाभ होगा।

आगे के श्लोक की उत्थानिका—आगे आचार्य इस शंका के दूर करने के लिए कि जब शुद्ध आत्मा ऐसा विशेष कहा तब क्या आत्मा के कई भेद होते हैं, आत्मा के भेदों को बताते हैं।

श्लोक—बहिरन्तः परश्चेति त्रिधाऽत्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(सर्व देहिषु) सर्व प्राणियों में (बहिः) बहिरात्मा, (अन्तः) अन्तरात्मा (च परः) और परमात्मा (इति) इस तरह (त्रिधा) तीन प्रकार (आत्मा) आत्मा है। (तत्र) उनमें से (बहिः) बहिरात्मा को (त्यजेत्) छोड़, (मध्योपायात्) अंतरात्मा रूप उपाय से (परमं) परमात्मा को (उपेयात्) साधन करे ॥

भावार्थ—यहां पर आचार्यने तीन अवस्थाएं आत्मा की बताई हैं। जो आत्मा अपने आत्मा को आत्मरूप नहीं जानता किन्तु उसे शरीररूप व रागद्वेष रूप ही जानता है तथा सच्चे आत्मा के सुख व उसकी शांतता को नहीं पहिचानता है वह बहिरात्मा है जो आत्मा आत्मा को आत्मारूप परमात्मा की शक्ति को पूर्णपने रखने वाला शरीर व रागद्वेषादि से भिन्न शुद्ध ज्ञाता दृष्टा उत्पादव्यय ध्रौव्य रूप द्रव्य जानता है और उसी में सच्ची सुख शांति को पहिचानता है वह अन्तरात्मा है। तथा जो आत्मा शक्ति से पूर्ण सर्वज्ञ वीतराग शुद्ध है वह परमात्मा है। एक ही आत्मा में ये तीन अवस्थाएं हो सक्ती हैं। जब वह मिथ्या दृष्टि अज्ञानी है तब तो वह बहिरात्मा है, जब वह मिथ्यात्व

अज्ञान को भेद कर सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी होता है तब अन्तरात्मा है और जब कर्मबंधनों को नाश कर शुद्ध हो जाता है तब परमात्मा है। यहां पर द्रव्यार्थिक नय से द्रव्य की अपेक्षा कथन करते हुए हरएक आत्मा में तीन अवस्थाएं कही जा सकती हैं। जो निकट भव्य है उसमें जब तक वह मिथ्यात्वी है बहिरात्मापना वर्तमान में तथा अन्तरात्मापना व परमात्मापना भविष्य में अवश्य होगा इस अपेक्षा नैगम नय से है तथा जो परमात्मा है उनमें पहली दो अवस्थाएं भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा से है। अर्थात् पहिले हो चुकी हैं। अभव्य व दूरानुदूर भव्यों के भी आत्मा में द्रव्य की शक्ति की अपेक्षा अन्तरात्मापना व परमात्मापना विद्यमान है। परन्तु उनके कर्मों का आवरण इस जाति का है कि उनको उन अवस्थाओं की प्राप्ति की सामग्री का लाभ न होगा।"

प्रयोजन आचार्य का केवल आत्मा की तीन दशाएं बताने का है। इन तीन दशाओं में से जो बहिरात्मापना अर्थात् मिथ्यादृष्टि व अज्ञानपना है सो सब तरह से त्यागने योग्य है क्योंकि उस दशा में यह प्राणी अपने स्वरूप को व सच्चे सुख को न जान कर इंद्रियों की इच्छाओं के वश में पड़ा हुआ रात्रि दिन उन्हीं की तृप्ति के यत्न में रहता है तथा इंद्रियविषयों के पदार्थों के संग्रह करने में बड़ी भारी तृष्णा रखता है और उन पदार्थों के संयोग में भारी हर्ष तथा उनके वियोग में भारी शोक करता है। रोगादि दुःख होने व मरण होने पर बहुत क्लेशित होता है। स्त्री पुत्रादि के मोह में पड़के उनके लिये अन्याय व न्याय किसी बात का विचार न करके पैसा लाता है। उद्यम तो बहुत करता है पर मरते समय तक भी आशा को पूरा नहीं कर सक्ता किन्तु बड़ी बड़ी आशा को लिए हुए आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान से प्राण छोड़ कर पशु आदि खोटी योनि में पहुंच जाता है। उसका वर्तमान जीवन भी दुःखी व भविष्य जीवन भी दुःखी होता है। अहंकार ममकार की डोरी में बंधा हुआ संसार के भंवर में नित्य भ्रमण किया करता है।

अन्तरात्मापना ग्रहण करने योग्य है क्योंकि अन्तरात्मा आत्मा का सच्चा स्वरूप जानता है वह सच्चा श्रद्धावान व सम्यग्ज्ञानी होता है। जीवों के जो मिथ्यात्व आदि जो १४ गुणस्थान बताये हैं उनमें पहिले तीन गुण

स्थान तक तो वहिरात्मा है अर्थात् मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र गुणस्थान धारी अन्तरात्मा नहीं इसी से वहिरात्मा है। अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे गुण स्थान से लगाय क्षीण मोह नाम के बारहवें गुणस्थान तक अन्तरात्मा हैं। उनमें चौथे गुणस्थान वाला जघन्य है। पांचवें व छठे गुणस्थान वाले मध्यम तथा ध्यान में लीन सातवें से बारहवें तक उत्तम अन्तरात्मा हैं। तेरहवें चौदहवें गुणस्थान वाले शरीर सहित परमात्मा हैं। सिद्ध शरीररहित परमात्मा हैं।

यदि हम निश्चयनय अर्थात् द्रव्यार्थिकनय से विचार करें तो आत्मा में ये तीन अवस्थाओं का विशेष नहीं भासता है। आत्मा सदा ही अपने स्वभाव रूप एकज्ञायक भावरूप प्रतिभासता है। परन्तु जब व्यवहार नय अर्थात् पर्यायार्थिक नय से विचार करते हैं तब कर्मबंधन सहित आत्मा की दृष्टि से आत्मा के तीन भेद हो जाते हैं। इस श्लोक में आचार्य ने बताया है कि आत्मा का शुद्ध स्वभाव अर्थात् परमात्म अवस्था ही उपादेय है। तथा उसकी प्राप्ति के लिये जो अन्तरात्म अवस्था है वह भी साधन अवस्था में उपादेय है। अतएव भव्य जीव को मिथ्याबुद्धि छोड़कर तथा यथार्थ बात को जानकर अपनी निर्मल शक्ति का ध्यान करना चाहिये जिस से निज शक्ति प्रगट होवे और यह आत्मा अपनी गुप्त विभूति का प्रगट भोक्ता होजावे।

आगे की उत्थानिका—अब आचार्य इस प्रकार आत्मा के स्वरूपों का लक्षण कहते हैं—

वहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः।
चित्तदोपात्म विभ्रान्तिः परमात्माऽतिनिर्मलः ॥५॥

अन्वयार्थ—(शरीरादौ) शरीर, वचन, मन आदि में (जातात्मभ्रान्तिः) आत्माके होने की जिसके भ्रांति या भरम है वह (वहिरात्मा) मिथ्यादृष्टि अज्ञानी वहिरात्मा है। (चित्तदोपात्मविभ्रान्तिः) संकल्प

आगे की उत्थानिका—अब आचार्य परमात्मा के प्रसिद्ध अन्य नामों को कहते हैं:—

श्लोकः—निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः ॥
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः—(निर्मलः) कर्मों के मल से रहित होने से निर्मल हैं (केवलः) शरीरादिकों के सम्बन्ध से रहित हैं अर्थात् केवल मात्र आप ही हैं इस से केवल हैं; (शुद्धः) द्रव्य कर्म और भाव कर्मों के अभाव से परम शुद्धि को रखने वाले हैं इस से शुद्ध हैं; (विविक्तः) शरीर तथा कर्म आदि का स्पर्श जिनके आत्म प्रदेशों से नहीं है अर्थात अस्पर्श और अबन्ध हैं इस से विविक्त हैं; (प्रभुः) इन्द्रादि तथा गणधरादि मुनि इन सब के स्वामी हैं; (अव्ययः) जो अनंत दर्शन ज्ञान सुख वीर्य मय स्वभाव प्राप्त किया है उससे कभी छूटने के नहीं हैं इस से अव्यय हैं; (परमेष्टी) इन्द्रादिकों से वन्दने योग्य परम अर्थात् उत्कृष्ट पद में विराजमान है इस से परमेष्ठी हैं; (परात्मा) संसारी जीवों से विलक्षण आत्मा होने से परात्मा हैं; (ईश्वरः) संसारी जीवों को असम्भव ऐसे आत्मिक परम ऐश्वर्य को रखने वाले हैं इस से ईश्वर हैं; (जिन) मोहनीयादि कर्मों को विजय कर लिये हैं इस से जिन हैं (इति) इस प्रकार (परमात्मा) परमात्मा के वाचक नाम हैं।

भावार्थ—यहां पर जो आचार्य ने परमात्मा के बताने वाले कुछ सार्थक नाम लिखे हैं उस से प्रयोजन यह है कि अन्तरात्मा इन नामों से व उनके समान अन्य नामों से परमात्मा के स्वभाव का मनन करे। भिन्न २ शब्द होने से हमारा उपयोग भिन्न २ शब्दों के द्वारा उसी परमात्मा का ही स्मरण करता है। जिन २ शब्दों से परमात्मा के निर्मल गुणों का एक अंश भी बोध हो वे सब शब्द परमात्मा के स्मरण में कारणभूत हैं। इसी लिये इन्द्र १००८ नामों से व मुनि गण अनेक नामों से परमात्मा के गुणों का विचार करते हैं। क्योंकि अपनी आत्मा और परमात्मा में द्रव्य अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है इस लिये परमात्मा के गुणों की प्रशंसा करना अपने ही

विकल्प रूप चित्त तथा रागादिक दोष इनको आत्मा मानने की भ्रान्ति जिसके नहीं रही है वह (अन्तरः) अन्तरात्मा है [अति निर्मलः] जो अति शुद्ध कर्ममलरहित है वह [परमात्मा] पवित्र तथा उत्कृष्ट आत्मा है।

यहां आचार्य ने बताया है कि जो प्रयोजन भूत अर्थात् मोक्षमार्ग में उपयोगी तत्त्व का जैसा स्वरूप है वैसा न श्रद्धान कर और का और श्रद्धान करता है उसे ही बहिरात्मा कहते हैं। शरीर जड़ पुद्गल की वर्गणाओं का समूह है अचेतन है इस से कभी आत्मा नहीं हो सक्ता। वचन भी भाषावर्गणाओं का समुदाय है। जड़ है। मन दो प्रकार का है द्रव्य मन तथा भाव मन। द्रव्य मन आठपाखड़ी का कमलाकार एक चिन्ह हृदय-स्थान में है जो अति सूक्ष्म वर्गणाओं का रचा हुआ है भाव मन कर्मों के क्षयोपशम से होता है। कर्मरहित के मन नहीं होता। राग द्वेषादि भाव सब मोहनीय कर्म के उदयके दृश्य हैं। सामान्य से कर्म तीन प्रकार के हैं— द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्म। ये तीनों ही पुद्गलसम्बंधी हैं। ज्ञानावरणादि आठ कर्म द्रव्यकर्म हैं जो कार्माण वर्गणाओं से रचे हुए हैं। उनही के फल रूप जो औदारिक वैक्रियिक, आहारक व तैजस शरीर हैं सो नोकर्म हैं तथा जो आत्मा के विभाव भाव रागद्वेषादि रूप हैं वे भावकर्म हैं उन भाव कर्मों को पौद्गलिक या जड़ इसी लिये कहते हैं कि ये पुद्गल कर्म के उदय के निमित्त से होते हैं। आत्मा के स्वाभाविक भाव नहीं हैं। जो कोई इन तीन प्रकार कर्मों से भिन्न आत्मा के स्वरूप को पहिचानता है उसको कभी मन, वचन, काय व विभाव भावों में आत्मापने की भ्रांति नहीं होती है। ऐसा अन्तरात्मा ही भेदज्ञानी तथा महात्मा कहलाता है। और वह अपने स्वभाव का और स्वभाव में रहे हुए अतीन्द्रिय आनंद का प्रेमी हो जाता है। इसी प्रेमवश वह आत्मा का अनुभव किया करता है। स्वानुभव रूपी मंत्र के प्रभाव से उसकी कर्म की गांठ खुलती जाती है और वह धीरे २ परमात्म पद के निकट पहुंचता जाता है इसी से आचार्य ने कहा है कि अन्तरात्मा होना ही परमात्मपद प्राप्ति का उपाय है।

आगे की उत्थानिका—अब आचार्य परमात्मा के प्रसिद्ध अन्य नामों को कहते हैं:—

श्लोकः—निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः ॥
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः—(निर्मलः) कर्मों के मल से रहित होने से निर्मल हैं (केवलः) शरीरादिकों के सम्बन्ध से रहित हैं अर्थात् केवल मात्र आप ही हैं इस से केवल हैं; (शुद्धः) द्रव्य कर्म और भाव कर्मों के अभाव से परम शुद्धि को रखने वाले हैं इस से शुद्ध हैं; (विविक्तः) शरीर तथा कर्म आदि का स्पर्श जिनके आत्म प्रदेशों से नहीं है अर्थात् अस्पर्श और अबन्ध हैं इस से विविक्त हैं; (प्रभुः) इन्द्रादि तथा गणधरादि मुनि इन सब के स्वामी हैं; (अव्ययः) जो अनंत दर्शन ज्ञान सुख वीर्य मय स्वभाव प्राप्त किया है उससे कभी छूटने के नहीं हैं इस से अव्यय हैं; (परमेष्ठी) इन्द्रादिकों से वन्दने योग्य परम अर्थात् उत्कृष्ट पद में विराजमान है इस से परमेष्ठी हैं; (परात्मा) संसारी जीवों से विलक्षण आत्मा होने से परात्मा हैं; (ईश्वरः) संसारी जीवों को असम्भव ऐसे आत्मिक परम ऐश्वर्य को रखने वाले हैं इस से ईश्वर हैं; (जिन) मोहनीयादि कर्मों को विजय कर लिये हैं इस से जिन हैं (इति) इस प्रकार (परमात्मा) परमात्मा के वाचक नाम हैं।

भावार्थ—यहां पर जो आचार्य ने परमात्मा के बताने वाले कुछ सार्थक नाम लिखे हैं उस से प्रयोजन यह है कि अन्तरात्मा इन नामों से व उनके समान अन्य नामों से परमात्मा के स्वभाव का मनन करे। भिन्न २ शब्द होने से हमारा उपयोग भिन्न २ शब्दों के द्वारा उसी परमात्मा का ही स्मरण करता है। जिन २ शब्दों से परमात्मा के निर्मल गुणों का एक अंश भी बोध हो वे सब शब्द परमात्मा के स्मरण में कारणभूत हैं। इसी लिये इन्द्र १००८ नामों से व मुनि गण अनेक नामों से परमात्मा के गुणों का विचार करते हैं। क्योंकि अपनी आत्मा और परमात्मा में द्रव्य अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है इस लिये परमात्मा के गुणों की प्रशंसा करना अपने ही

आत्मा के गुणों की प्रशंसा करना है। "किसी का मनन करना व उसकी भावना करनी" इन वाक्यों का मतलब यही है कि उसी को वार वार मन में रटना या विचारना। इस लिये यदि एक भाव या अर्थ के प्रकाशक अनेक शब्द हैं तो भी कुछ हर्ज नहीं है क्योंकि उन सब शब्दों मे वार वार परमात्मा के गुणों का ही सम्बन्ध है। हम कह सकते हैं—सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनंतज्ञानी, परम क्षायिक चैतन्यमूर्ति, परमानुभवी, स्वरुपासक्त, चित्निधान, सकलावबोधी, तत्वज्ञानी, तत्ववेदी, आत्मज्ञानी, परमबुद्ध, तत्ववित्, ज्ञानमूर्ति, सम्यक्ज्ञानी, परमज्ञानी, महाज्ञानी, आदि—

इन सब शब्दों एक का सर्वज्ञ ही में भाव आजाता है परन्तु इस भाव वाचक यदि करोड़ों शब्द रच कर भी हम नाममाला जपें तो भी एक अच्छा मनन परमात्मा के एक गुण का हो जायगा।

आगे की उत्थानिका—अब कहते हैं कि इस का क्या कारण जो बहिरात्मा देहादि को आत्मा मान लेता है।

श्लोक—बहिरात्मेन्द्रिय द्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुखः।
स्फुरितः स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति ॥७॥

अन्वयार्थ—(आत्मज्ञानपराङ्मुखः) आत्मा का सच्चा स्वरुप क्या है इस ज्ञान से जो शून्य है ऐसा (बहिरात्मा) मिथ्या दृष्टि अज्ञानी जीव (इन्द्रियद्वारैः) अपनी इंद्रियों के द्वारा (स्फुरितः) विषयों के ग्रहण में व्यापार करता हुआ (स्वात्मनो देहम्) अपने आत्मा की देह को (आत्मत्वेन) आत्मा रूप से (अध्यवस्यति) माना करता है।

भावार्थ—बहिरात्मा की अंतरंग की बुद्धि ऐसी मंद होजाती है कि उस की बुद्धि में शरीर के सिवाय और कोई उस शरीर में उस शरीर से भिन्न है ऐसा समझ में नहीं आता वास्तव में उसको विचार करने की भी फुरसत नहीं मिलती। जिन एकेन्द्रियादि जीवों के मन नहीं है वे तो इस लिए ही नहीं हैं कि उनके भीतर तर्क हो जिस से वे [illegible] सूक्ष्म पदार्थ को जान सकें। मनसहित ऐसेभी प्राणी सानि [illegible] णों के [illegible]

हुए उन्हीं की पूर्ति में घूमा करते हैं। इसी विषय की तलाश करते २ उनका सर्व जीवन अन्त हो जाता है। अनन्ते शरीर मन रहित अवस्थाके इस प्राणी को धारने पड़ जाते हैं जिस में अनंत काल बीत जाता है। मन सहित जो पशु या मनुष्य होते हैं उन में विचार करने की शक्ति होती है परन्तु पशुओं को ऐसा अवसर मिलना अतिशय कठिन है जिससे वे आत्मा को पहचान सकें। मनुष्यों में इस ज्ञान की सुगमता है। परन्तु मनुष्यों की जीवनी पशुओं की जीवनी पशुओं के समान अपने इन्द्रियों के विषयों की पूर्ति में ही बीत जाती है। उनको जन्म से ही इन्द्रियों की इच्छा की पूर्ति का ही अभ्यास रहता है इससे वे अपना अस्तित्व अपने शरीर की दशा ही को मान बैठते हैं—उनको परलोक का विश्वास नहीं होता—वे शरीर के जन्म को अपना जन्म व शरीर के मरण को अपना मरण मान लेते हैं। इसी लिये मरण से डरते हुए रहते हैं और विषय भोग को ही सुख मानते हैं इस से उसी के लिये रात दिन झूरा करते हैं। धनादि लाते हैं सामग्री इकट्ठी करते हैं, कुटुम्ब के स्नेह में अतिशय लवलीन होजाते हैं। इन्द्रियों का व्यापार सो मेरा व्यापार है, इंद्रियों का सुख है सो मेरा सुख है यही भावना उनके भीतर जागती है। जो द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनि होते हैं उन की यद्यपि बाहर से देखते हुए इंद्रियों के विषयों से विरक्तता है तथा अत्यन्त वैरागी व तपस्वी दीखते हैं और वे अपने मन में भी यही समझते हैं कि हम मोक्ष के लिये ही उद्यम करते हैं तो भी उन के मन में आत्मा का शुद्ध स्वरूप नहीं भासता है—मोक्ष में भी इंद्रिय विषय की जाति का कोई अनन्त सुख है इस लालसा से तपस्या करते हैं—उनको आत्माके अतीन्द्रिय सुख का व उस की स्वाभाविक वीतरागता का पता नहीं लगता इसी लिए वह मोक्ष के स्वरूप को भी नहीं जानते। जिस से यही प्रयोजन निकलता है कि वे शुद्ध आत्मा से विलक्षण संसारी आत्मा में प्रगट वैभाविक परिणति को ही आत्मा मानते हैं एकत्व विभक्त आत्मा का ज्ञान न रखने से मिथ्यावादी साधु जो बाहरमें शास्त्रोक्त आचरण पाल रहे हैं बहिरात्मा ही रहते हैं। जिस जिसके पुद्गल कर्म वा उसकी किसी प्रकार की भी पर्याय में आत्मा के होने का अध्यवसान है वही बहिरात्मा है। स्वामी अमृतचंद्र जी ने समयसार कलशों में यही कहा है:-

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बन्धहेतुविपर्ययात् ।
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्यदृश्यते ॥ ८ ॥
अनेनाध्यवसायेन निःफलेन विमोहितः
तत्किंचनापि नैवाऽस्ति नात्माऽऽत्मानं करोति यत् ॥९॥
विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा-
विदधाति विश्वम् । मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष-
नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥ १० ॥

भावार्थ—जो यह अज्ञान स्वरूप पर को आपमानन रूप अध्यवसाय इस मिथ्या दृष्टि-जीव के दीखता है सो ही विपरीत भाव होने से बंध का कारण है इसी निष्फल अध्यवसाय से मोहित होता हुआ यह प्राणी इस जगतमें ऐसा कोई वस्तु परिणत नहीं है जिसको अपनी व आपरूप न मानले। जिस मिथ्या मानन रूप अध्यवसाय के प्रभाव से जगत से भिन्न होता हुआ भी अपने को जगत रूप व भिन्न परिणत रूप मान लेता है उसका मूल कारण एक मोह अर्थात् मिथ्यात्व है। यह मोह जिनके नहीं है वेही यती हैं अर्थात् मोक्ष के यतन करने वाले सम्यग्दृष्टि हैं। आचार्य का प्रयोजन यह है कि इस प्रकार की मिथ्या बुद्धि के छोड़ने से ही अंतरात्मा हो सकता है ॥

आगे की उत्थानिका—इस प्रकार मानता हुआ मनुष्यादि चारों गति के शरीरों को अभेद से आत्मा ही मान लेता है ऐसा दिखलाते हैं;—

श्लोकः—नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम्
तिर्यंच तिर्यगंगस्थं सुरांगस्थं सुरं तथा ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(अविद्वान्) अज्ञानी बहिरात्मा (नर देहस्थं) मनुष्य देह में तिष्ठे हुए (आत्मानम्) आत्मा को (नरम्) मनुष्य (तिर्यंगस्थं) तिर्यंच शरीर में ठहरे हुए आत्मा को (तिर्यंच) पशु (तथा) और (सुरांगस्थं) देव के शरीर में ठहरे हुए आत्मा को (सुरं) देव (मन्यते) मानता है।

श्लोक—नारकं नारकांगस्थं न स्वयं तत्वतस्तथा।
अनन्तानन्त धीशक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—तथा (नारकांगस्थं) नरक के देह में ठहरे हुए आत्मा को (नारकं) नारकी मानता है परन्तु (तत्त्वतः) निश्चयनय से (तथा) उस रूप अर्थात् मनुष्य तिर्यंच देव तथा नारकी रूप (स्वयं) अपने आप कर्म की उपाधि बिना (न) नहीं होता है क्योंकि निश्चय से यह आत्मा [अनन्तानन्त धी शक्तिः] अनन्तानन्त ज्ञान और वीर्य का धारी है, [स्वसंवेद्यः] अपने से ही अंतरंग में अनुभव करने योग्य है, तथा [अचलस्थितिः] उसका स्वभाव निश्चल रूप से रहता है।

भावार्थ—अज्ञान आत्मा कर्मों के उदय होने वाली अवस्थाओं को ही अपनी सची असली सूरत मान लेता है। उस की बुद्धि में इस बात का भेद ज्ञान नहीं होता कि मेरा स्वभाव अन्य है। और नारकादि अवस्थायें अन्य हैं। ज्ञानी जीव आत्मा के स्वभाव को सर्व कर्म के द्वारा होने वाली अवस्थाओं से भिन्न जानता है यद्यपि व्यवहार में ऐसा कह भी दिया जाता है कि यह मनुष्य है या यह पशु है परन्तु विशेष से ज्ञानी को यह पक्का निश्चय है कि वह कर्म बंध जिसके उदय से नरक, मनुष्य तिर्यंच या देवगति होती है पुद्गल है— जड़ है अतएव आत्मा जो केवल है शुद्ध है वह इस रूप नहीं है क्योंकि जब कर्म की उपाधि नहीं रहती तब ये गतियें नहीं होतीं। यदि स्वाभाविक होती हैं तो सदा काल रहती। अज्ञानी बहिरात्मा को ऐसा पता नहीं होता इसी से जो अवस्थाएं दीखती हैं उन्हीं रूप अपने को मान लेता है तथा अपनी पाईहुई जातिमें व उसके कार्यों में ऐसा तन्मयी होजाता है कि उसको आगे पीछे की कुछ खबर नहीं रहती यदि मिथ्यादृष्टी मनुष्य हुआ तो सदा शरीर पालन कुटुम्बवर्धन विषयसेवन मानरक्षवा आदि कार्यों में ही गुंथा रहता है। यह उसको कोई कहेभी कि तेरे भीतर आत्मा है तो उसको उससे कुछ बोध नहीं होता। भ्रम में पड़ कर समझता है कि रुधिर आंते हड्डी को कहते होंगे। करोड़ों अरबों जंगली मनुष्य अपनी वर्तमान की मनुष्यकी सूरत को ही आप मानते हैं—उसके सिवाय उन्हें कुछ भी भास नहीं

होता पशुओंमें तो प्रायः सर्वही ऐसे मिलेंगे कि जिस शरीरमें होते हैं उस शरीर के मोह जालमें रात दिन फंसे रहते हैं। उस शरीर सम्बंधी इन्द्रियोंके विषयों के पीछे ही उनके जीवन के समय का उपयोग होता है। देवों की भी यही दशा है। मिथ्यास्वभाव के प्रभाव से उन देवों को भी पर्याय बुद्धि हो जाती है और वे रात दिन वन उपवन में सैर करते हैं, देवांगनाओं से क्रीडा करते हैं अपने देव गति सम्बन्धी खेल तमाशे मौज शौक में मगन रहते हुए उन्हें स्वप्नमें भी यह ध्यान नहीं आता कि आत्मा तो एक भिन्न पदार्थ है। यदि कदाचित मिथ्या दृष्टि ग्रैवेयिक के अहमिन्द्रों के ज्ञाता भी हैं तो वे उसके सच्चे रूप को नहीं पहचानते। नारकी जीव मिथ्यात्व दशा में सिवाय मारकाट करने व दुख भोगने के और कुछ भी ऐसा नहीं सोचते जिस से भिन्न आत्मा का शुद्ध स्वभाव बुद्धि में झलके इस तरह चारों ही गति के जीव जिस २ अवस्था को या शरीर को पाते हैं उस २में ऐसी गाढ अपनायत कर लेते हैं कि उनको अपने भिन्न आत्मा का स्वप्न में भी खयाल नहीं होता।

पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि निश्चय तत्त्व दृष्टि से जब हम आत्मा का विचार करते हैं तो यह आत्मा अनन्त गुणों का समुदाय है इसका स्वभाव अनन्तानंत वचन अगोचर ज्ञान दर्शन सुख वीर्य का धारी है इस प्रकार का साक्षात प्रत्यक्ष अनुभव कर्मों के नाश होने पर होता है अर्थात् अरहंत दशामें होता है तौभी श्रद्धा व ज्ञान द्वारा इस स्वभाव का अनुभव स्वसंवेदन रूप सम्यग्दृष्टि तत्त्वज्ञानी के भी होता है। इस आत्मा का स्वभाव द्रव्यदृष्टि से सदा बना रहता है। यद्यपि कर्मों की उपाधि होते हुए स्वभाव शक्तिरूप रहता है व्यक्त रूप नहीं होता परन्तु जब कर्म का आवरण चला जाता है तब साक्षात् व्यक्त होता है तब इसकी शुद्ध अवस्था सदा निश्चल रहती है कभी किसी तरह मिल नहीं सकती।

यहांपर आचार्यका अभिप्राय बहिरात्मबुद्धि छुड़ानेका है इससे आचार्य कहते हैं कि हरएक गतिवाले प्राणीको भी अपने आत्माका स्वभाव द्रव्यदृष्टि से सदा ही शुद्ध बुद्ध आनन्दमयी सिद्ध सम देखना चाहिये और अपनी अवस्थाओं को कर्मजनित जानना चाहिये। क्योंकि जब आत्मा का स्वरूप पुद्गल के साथ एक क्षेत्रावगाह होनेपर भी भिन्न २ भासने लगता है

तैसही वह बहिरात्मा से अंतरात्मा होजाता है । यह अंतरात्मापनाही हितकारी व उपादेय है । इसलिये निश्चयनय के द्वारा अनुभव करके इस बहिरात्मा दशाको मिटाना चाहिये ।

आगे की उत्थानिका—अपनी देह में ही आत्मा की मान्यता करनेवाला बहिरात्मा दूसरेकी देहमें कैसी बुद्धि रखताहै इसबातको कहतेहैं—

श्लोक—स्वदेह सदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम्
परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(मूढः) अज्ञानी बहिरात्मा (स्वदेहसदृशं) अपनी देहके समान अर्थात् अपनी देहका व्यापार, बोलना, आकार आदिके समान (परदेहम्) दूसरे की देह को अर्थात् दूसरे की देह के व्यापार आदिको (दृष्ट्वा) देखकर (परात्माधिष्ठितं) अन्य आत्मा को अपने में रखने वाली ऐसी देहको अथवा परात्मा जो आत्मा से परस्वरूप कर्म उसके द्वारा अधिष्ठित अर्थात् प्राप्तहुई ऐसी देहको जो चेतन सहित है तथा(अचेतनं) स्वयं चेतन रहित है उसे (परत्वेन) पररूप अर्थात् आत्मा से रहित (अध्यवस्यति) मानलेता है ।

भावार्थ—अज्ञानी बहिरात्मा जैसे अपना देहकोही आप मानलेता है वैसे दूसरेकी देहकोभी उसीरूप मानलेता है । इसको जैसी बुद्धि अपनेमें होती है वैसी वह दूसरे में करता है । उसको जैसे अपने भीतर भिन्न आत्मा का ज्ञान नहीं है । वैसे दूसरे के भीतर भी भिन्न आत्मा का ज्ञान नहीं है । आप जैसे संसार के विषय भोगों में तन्मय है वैसा ही दूसरों को समझता है । आप जैसे इन्द्रिय विषय की तृप्ति से सुख मानता है वैसा दूसरा भी मानता है ऐसा समझता है । आप जैसे अपनामरण जान डरताहै, वैसे दूसरे का मरण होजायगा तब उसके विषय भोग छूट जायंगे ऐसा मान भय करता है । जैसे आप पर्यायबुद्धि है वैसे दूसरे को समझता है । भिन्न आत्मा का दर्शन न आप में होता है न दूसरे में होता है । यहां पर आचार्य ने बहिरात्मा के अज्ञान की बात बताई है । इसीकारण यह देखने में आताहै,

कि मिथ्यादृष्टि पिता अपने पुत्र को धर्म साधते हुए देखकर मन में दुःखी होता है तथा लौकिक कार्योंको करताहुआ देखकर प्रसन्न होता है। उसको ऐसा बहिरात्मा गृहस्थ जैसे अपने धन पुत्रादि की बढ़ती देख कर संतोष मानताहै वैसे दूसरे की परिग्रह व कुटुम्ब की वृद्धि देखकर संतोष मानता है। तथा वह बहिरात्मा विषयोंके आधीन होकर इतना स्वार्थी बनजाता है कि अपने स्वार्थी-पने में यदि किसी के द्वारा कोई बाधा पहुंचती देखता है तो उसका बिगाड़ या नाश कर डालने में कोई संकोच नहीं करता। राज्य के लोभी पुत्र भी अपने पिताको मारडालते हैं, स्वार्थी बहिरात्मा राजा लोग अपनी प्रजा के हित की तरफ कमदृष्टि रखते हैं अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये प्रजाको भी हानि पहुंचा देते हैं। बहिरात्मा की दृष्टि अत्यन्त स्वार्थयुक्त होतीहै। उसको न अपने आत्मा की रुचि होती है न पर की आत्मा को समझता है।

आगे की उत्थापिका—इस तरह मानने से बहिरात्मा क्या करता है—

श्लोक—स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम्
वर्त्तते विभ्रमः पुंसां पुत्र भार्यादि गोचरः ॥११॥

अन्वयार्थ—(देहेषु) अपनी या दूसरों की देहोंमें (स्वपराध्यवसायेन) स्वपरकी ऊपर कहीहुई मान्यताके कारण (अविदितात्मनाम्) आत्मा को न जानने वाले (पुंसां) पुरुषों के (पुत्र भार्यादि गोचरः) पुत्र स्त्री आदि सम्बन्धी (विभ्रमः) भ्रम (वर्त्तते) वर्तन करता है।

भावार्थ—जैसा ऊपर कहा गया है अज्ञानी मिथ्यावादी आत्माके स्वरूप को न जानकर मनुष्य, नारकी, देव, व पशु के रूपको ही आत्मा जानते हैं—उस पर्याय में ही आत्मबुद्धि करते हैं इससे पुत्र, स्त्री, धन, धान्य आदि जो बिलकुल अपने आत्मा से भिन्न हैं तथा अपने आत्मा के उपकार करनेवाले नहीं हैं उनको अपना उपकार करनेवाले मानलेते हैं। उनकी प्राप्ति में व उनके रक्षित रहने में सन्तोष तथा उनके वियोग होने पर महासन्ताप करते हैं यहां तक कि अपना अपघात तक भी कर डालते हैं।

निश्चयसे स्त्री, पुत्र, मित्र, माता, पिता आदिका आत्मा अपनेसे भिन्न है तथा उनका जीवित रहना उनकी आयु कर्म के आधीन है; तथा उनको सुख व दुःख होना उन के साता व असाता कर्म के आधीन है। उन का आत्मा शरीर व उनके पुण्य पाप कर्म सब अपनेसे भिन्न हैं, ऐसा होने पर भी अज्ञानी बहिरात्मा उनको अपना ही मानलेता है, और यह चाहता है कि वे सब उसके अनुकूल वर्ताव करें—कदाचित् उन का वर्ताव जब अपने मन के अनुसार होता है तब तो हर्ष करके फूल जाता है, और जब अपनी इच्छा के अनुसार उनका वर्तन नहीं होता व उनकी दशा बिगड़ जाती है, तब अपनेही स्वार्थ के अभिप्राय से बहुत अधिक शोक तथा संताप करता है। पुत्र के मोह में कभी इतना अंधा बन जाता है कि उसके मरण में आप पागल हो जाता है व कोई अपना अपघात भी करलेता है। उन स्त्री पुत्रादि को अपना मान कर यह अज्ञानी जीव उन के लिये नाना प्रकार अन्याय करके भी विषय की सामग्री को इकट्ठा करता है; जब ममता करता है तब तो ऐसा वर्तन करता है और कदाचित् किसी स्त्री या पुत्र या भ्राता से अपने विषय भोग में अंतराय होता देखता है तब उनका शत्रु भी बन जाता है और उन के नाश में कमर कस लेता है।

विभ्रम मिथ्या मान्यता को कहते हैं जो अपने सच्चे साथी कभी हो नहीं सक्ते, उनको अपना सच्चा साथी मान लेना, यही भ्रम है। यदि विचार कर देखा जाय तो हर एक प्राणी अपने २ स्वार्थ में लगा रहता है। स्त्री अपने मतलब से पति से प्रेम करती है, पति अपने काम को करते हुए सहाई देख कर स्त्री से प्रेम करता है। हमारे कार्य में मदद देगा व वृद्धावस्था में काम आयेगा, ऐसा समझकर पिता, पुत्र से स्नेह करता है। पिता से धनादि का लाभ होगा, यह जान कर पुत्र, पिता को मानता है।

संसार में देखा जाता है कि, जब किसी से अपना कोई स्वार्थ होता नहीं देखा जाता है, तब उस से बिलकुल स्नेह उड़ जाता है। अपाहिज बुढ़िया सास को व अपाहिज बूढ़े श्वसुर को, पुत्रवधू बिलकुल नहीं चाहती है। अपने प्रिय पुत्र भी धन रहित वृद्ध अपाहिज पिता को नहीं चाहते हैं। मित्र भी विषय में सहाई होने के कारण मित्र से प्रेम करते हैं। देखा जाय तो सर्व

संसार के प्राणी अपने २ मतलब में लगे रहते हैं। ज्ञानी पुरुष दूसरों का उपकार करते हुए व उन से काम लेते हुए उनके सर्वस्व को अपने से भिन्न द्रव्य मानते हैं, इसी से उनके संगम में विशेष फूलते नहीं तथा उनके वियोग में विशेष दुःखी नहीं होते—वे यही समझते हैं कि उनका सम्बन्ध एक कुटुम्ब में, एक वृक्ष में रात्रि को बसेरा करने वाले पक्षियों के समान है, जैसा कि स्वामी पूज्यपाद जी ने स्वयं अपने इस उपदेश ग्रन्थ में कहा हैः—

श्लोक—दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसंति नगे नगे ।
स्वस्वकार्यवशाद्यांति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ॥९ ॥

भावार्थ—रात्रि को पक्षी अनेक दिशा के भिन्न २ स्थानों से आकर, वृक्ष २ पर कई मिल करे बसेरा कर लेते हैं और सवेरा होते २ वे पक्षी अपने २ कार्य के वश अनेक दिशाओं के भिन्न २ स्थानों में चले जाते हैं। उसी तरह एक कुटुम्ब में भिन्न २ गतियों से आकर भिन्न २ जीव एक साथ रहते हैं, पर जब २ जिसकी आयु पूरी होती है वह कुटुम्ब को छोड़ कर दूसरी भिन्न २ गति में अपने भिन्न २ कर्मों के अनुसार चले जाते हैं। जैसे वे पक्षी एक साथ थोड़ी देर के लिये ठहरते हुए भी भिन्न २ हैं, ऐसे ही एक कुटुम्ब में सब जीव भिन्न २ सत्ता व कर्म व आचरण व स्वभाव वाले होते हैं। ज्ञानी जीव अपने अंतःकरण से उनको भिन्नही समझता है, यद्यपि बाहर में यथायोग्य व्यवहार करता है। यह न समझना चाहिये कि मिथ्या दृष्टी अज्ञानी जीव स्त्री पुत्रों से तीव्र राग करता हुआ जो उनका उपकार करता है, उस से वह ज्ञानी जीव कम उपकार करेगा; जो भीतर से तीव्र स्नेह नहीं करता, किंतु उनको निश्चय से अपने से भिन्न जानता है। यद्यपि ज्ञानी सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा वस्तु के सच्चे स्वरूप को जानता हुआ भीतर से तीव्र स्नेह नहीं करता तथा जल में रहते हुए जैसे कमल जल से अलिप्त रहता है, वैसेही कुटुम्ब के स्नेह में अलिप्त रहता है तो भी स्त्री पुत्रादिकों का उपकार किसी तरह कम नहीं करता, प्रत्युत ज्यादा करता है। बहिरात्मा का प्रयोजन तो उन के शरीर की ही रक्षा पर रहता है, जब कि अंतरात्मा का प्रयोजन उन के आत्मा तथा मन, व वचन काय सब की रक्षा करने

होता है। वास्तव में बहिरात्मा द्वारा उनकी सच्ची उन्नति नहीं होती, किंतु और अवनति होती है, जब कि अंतरात्मा द्वारा उनकी सच्ची उन्नति होती है। अंतरात्मा उनको धर्ममार्ग मुखपना से सुझाता है, जिस से उनकी आत्मा भी अंतरात्मा हो जाय। बहिरात्मा का यह व्यवहार होता है कि वह अपने स्त्री पुत्रादिकों के श्रद्धान को और मलीन करदे, जब कि अंतरात्मा उनके श्रद्धान को निर्मल रखना है। प्रायः बहुत से मिथ्या श्रद्धान ही अपने झूठे यश के लिये छोटी उमर में अपने बालकों का विवाह कर देते हैं, खूब द्रव्य नाच तमाशे आदि में लुटा देते हैं वृद्धावस्था होने पर भी विषय वासना न रोक कर स्त्री सम्बन्ध कर लेते हैं। कन्याओं के कई लेनेवाले हैं, ऐसा देख कर अपनी प्यारी कन्या को १०,०००) व २०,०००) रु० में किसी अयोग्य वर को दे देते हैं, उनको कन्या के ऊपर यह दया नहीं आती कि इसे वृद्ध पति कैसे ठीक पड़ेगा।

अंतरात्मा जगत के प्राणीमात्र को अपना बन्धु मानता है, ऐसे समता: भाव के साथ २ जिनका अपने शरीर से बहुत निकट सम्बन्ध है, उनका विशेष उपकार करना चाहता है। इसी बुद्धि से स्त्री पुत्रादिकों में अपनापन का भ्रम न करता हुआ भी उनके साथ बहुत ही उचित और योग्य व्यवहार करता है। यद्यपि वह आत्मा के अध्यात्म रस का प्रेमी है तो भी अपने शुभ परिणामों से कोई स्वार्थ या बदला न चाहता हुआ भी जगत के उपकार को भले प्रकार करता है। बहिरात्मा अज्ञानी का लोकोपकार अवश्य किसी न किसी कषाय की पुष्टि के लिये होता है, चाहे वह मान हो या लोभ हो। अंतरात्मा किसी निजी कषाय को पुष्ट नहीं करता किंतु जैसे वृक्ष दूसरों को विना स्वार्थ के फल देते हैं, नदी किसानों को पानी देती है, मेघ जल की वर्षा करते हैं, उसी तरह विना अपने स्वार्थ के अपने पुण्योदय से प्राप्त शक्तियों को दूसरों के उपकार में लगाना, अपना कर्तव्य समझता है। बहिरात्मा जीव अपनी स्त्री पुत्रादिकों में होने वाली मिथ्या मान्यता के वश, तीव्र मोह के कारण, बड़ा भारी कर्म बांधता है; तथा उनके पीछे अपने अज्ञान से दुःख भोगता है, तब अंतरात्मा स्त्री पुत्रादिकों में रंचमात्र भ्रम अर्थात् झूठी अपनापन की बुद्धि को न करता हुआ बहुत ही मंद मोही होता

है तथा उनके कारण आप कभी दुःख नहीं उठाना-वास्तव में मिथ्या ज्ञान दुःखदाई है, जब कि यथार्थ ज्ञान सुखदाई है।

बहिरात्मा अपनी भूल से ही जगत में दुःख पाता है। अंतरात्मा अपनी सच्ची बुद्धि से कोई प्रकार दुःख नहीं मानता।

क्योंकि बहिरात्मा का इस लोक सम्बन्धी जीवन भी दुःख रूप तथा परलोक सम्बधी जीवन भी दुःखरूप होता है। इसलिये आचार्य महाराज इस बहिरात्मापने को त्यागने की शिक्षा देते हैं कि झूठा भ्रम निकालो और स्त्री पुत्रादिकों से झूठा स्नेह न करो।

आगे की उत्थानिका—इस प्रकार स्त्री पुत्रादिकों में अपनापने का भ्रम कर लेने से क्या फल होता है सो कहते हैं:—

श्लोक—अविद्या संज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः।
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ-(तस्मात्) इस मिथ्या माननया भ्रम बुद्धि से बहिरात्मा के भीतर (अविद्या संज्ञितः) अविद्या है नाम जिसका ऐसा (संस्कारः) संस्कार अर्थात् असर (दृढः) मज़बूत या गाढ़ा (जायते) हो जाता है। (येन) जिस अविद्या के संस्कार के द्वारा (लोकः) यह अविवेकी मनुष्य (अंगमेव) शरीर को ही (स्वं) आत्मा (पुनरपि) फिर फिर भी यहां-तक कि अन्य २ जन्म में भी (अभिमन्यते) माना करता है।

भावार्थ-यहां पर आचार्य दिखलाते हैं कि इस अज्ञानी जीव में शरीरादि पर वस्तुओं को आत्मा मानने की अविद्या नवीन नहीं है किंतु बहुत प्राचीन है अर्थात् अनादि काल से है।

जब जब यह शरीर पाता है तब तब अपने को शरीर रूप ही मान लेता है। पशु अवस्था में, मैं कुत्ता हूं, मैं बन्दर हूं, मैं शेर हूं, मैं घोड़ा हूं, मैं भैंस हूं, मैं मत्स्य हूं इत्यादि रूप से तथा मनुष्य अवस्था में, मैं क्षत्री हूं, मैं ब्राह्मण हूं, मैं अंग्रेज हूं, मैं यहूदी हूं, मैं पारसी हूं, मैं मुसलमान हूं,

मैं हिन्दू हूं, मैं वैश्य हूं, मैं शूद्र हूं, मैं बलवान् हूं, मैं धनवान् हूं, मैं उच्चकुली हूं, मैं मूर्ख हूं, मैं पंडित हूं, मैं दाता हूं, मैं भिक्षुक हूं, मैं श्रावक हूं, मैं साधु हूं, मैं निरग्रन्थ हूं, मैं तपस्वी हूं, मैं राजा हूं, मैं बुद्धिमान् हूं, इत्यादि रूप से माना करता है। इसी तरह नरक में नारकी व देवगति में अपने को देव माना करता है। जिसके पास अबतक अविद्या या मिथ्याज्ञान पाया जाता है, समझना चाहिये कि उसने आज तक भी कभी कर्मादि से भिन्न एक शुद्ध बुद्ध आत्मा की प्रतीति नहीं पाई है। उस की मिथ्याबुद्धि का संस्कार जन्म २ में रहा करता है, इस से सदा ही इस लोक में हो या परलोक में, यह बहिरात्मा अपने शरीर को सब कुछ अपना सर्वस्व जानता है, किंतु उस से भिन्न वस्तु का कुछ भी पता नहीं लगाता।

जैसे किसी पत्थर पर पुनः २ रस्सी की रगड़ लगने से पत्थर में ऐसे चिन्हों के असर हो जाते हैं कि वे मिटते नहीं व कठिनता से मिटते हैं व जैसे किसी स्थान को साफ न करने से उस पर मिट्टी धूली जमते २ बहुत अधिक होजाता है व जैसे नशा एक दफे, दो दफे, चार दफे पीने से नशे की आदत पड़ जाती है जिसका छूटना कठिन होता है; उसी तरह पुद्गल रूप मैं हूं, मैं कोई भिन्न नहीं हूं, इस तरह की बुद्धि बराबर रहने से उस का असर बहुत पक्का होजाता है कि जिसका मिटना कठिन होजाता है। यदि विचार कर देखा जाय तो अनादि मिथ्या दृष्टि जीव के पर में अहंबुद्धि अनादि काल से ही चली आ रही है, कोई समय ऐसा नहीं हुआ कि जब यह बुद्धि न रही हो--जिस २ शरीर में जब यह संसारी मिथ्या ही जीव हुआ, तब तब उस २ शरीर में इसने आत्मबुद्धि करी, उसी पर्याय रूप अपने को माना। विग्रहगति में उन्हीं भावों को रक्खा करता है जो मरते समय होते हैं, इससे विग्रहगति में भी पर्याय बुद्धि रहा--इस तरह इस जीव के अनादि काल का यह अविद्या का संस्कार बहुत दृढ़ होरहा है, जिससे यह जहां कहीं जिस शरीर में जाता है उसी में आत्मबुद्धि कर लेता है। आचार्य दिखाते हैं कि इस बहिरात्मपने को धिक्कार हो, जिस से यह जीव अनादि से अन्धा होरहा है। अब यही उचित है कि इस अनादि की भूल को मेटा जाय और अपना स्वरूप जो अनन्तानंत ज्ञानानंदमय है, उसे पहचानकर अंतरात्मापना धारण किया जाय।

आगे की उत्थानिका—वहिरात्मा ऊपर लिखे प्रकार मानता हुआ क्या करता है तथा अंतरात्मा कैसे इस भ्रमसे बचता है, सो दिखातेहैं-

श्लोक-देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात् ।
स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनम् ॥१३॥

अन्वयार्थः—(देहे) इस शरीर में व अन्य पर वस्तु व भावों में (स्वबुद्धिः) आत्मा की बुद्धि रखनेवाला वहिरात्मा (आत्मानं) अपने आत्मा को (एतेन) इस देह से या पुद्गलकर्मादि से (युनक्ति) बंधनरूप करदेता है, अर्थात् कर्म बंधन में पड़कर दीर्घ संसारी होजाता है। (निश्चयात्) निश्चयसे (स्वात्मनिएव) अपने आत्मा के सचे स्वरूप में ही (आत्मधीः) आत्मा की बुद्धि करने वाला अंतरात्मा (देहिनम्) अपने आत्माको (वियोजयति) देहसे या पुद्गल कर्म बंध से छुड़ाता है।

भावार्थ—यहां पर श्रीपूज्यपाद महाराज ने वहिरात्मा और अंतरात्मा के फलको बताया है, जो मिथ्यात्वी अज्ञानी अपने आत्मा द्रव्य का निश्चय से क्या स्वरूप है, इस बात को नहीं जानता, वह वीतराग शुद्ध भाव को नहीं पासक्ता। उसके भावों से मोह की-कालिमा नहीं मिटती, उसके चित्त से विषय भोग के सुख की इच्छा नहीं हटती, वह कषायों को नहीं दूर कर सकता-यह संभव है कि उसके शुक्ललेश्या सम्बन्धी बहुत ही मंद कषाय रूप भाव हों, जिससे वह किसी का भी बुरा न विचारे तौ भी जो आत्मज्ञान शून्य है उसके अनंतानुबंधी कषाय का उदय रहता है, उसीसे स्वरूपाचरण चारित्र नहीं होता-उसकी वासना से रागद्वेष मोह दूर नहीं होते। इसीकारण वह मिथ्यात्व आदि कर्म की प्रकृतियों का बंध करता है। बंधावस्था में अशुद्ध भाव सहित मरण करता है, जिससे फिर शरीर को धारण कर पहले के समान चेष्टा करता है, इस तरह दीर्घ संसारी हो जाता है।

जब तक मिथ्यात्वकर्म नहीं कटता है तब तक कर्मबंध दूर होने व संसार के छेद होने का प्रारंभ नहीं होता, क्योंकि संसार की जड़ मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के दूर होते ही कर्मबंध रुकने लगता व पूर्वबन्ध कर्म की निर्जरा

होने लगती है। इसीलिये आचार्य ने कहा है कि जो निश्चयनय से अपने आत्मा के सच्चे स्वरूप को पहचानता है, उसकी अज्ञान की वासना मिटजाती है, वह अतीन्द्रिय सुख का प्रेमी हो जाता है। उस का सर्वस्व लक्ष्य उसकी आत्मा की विभूति की तरफ रहता है, वह लोक में रहते हुए भी वीतरागी होता है। ऐसा अंतरात्मा अनंतानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व के असर से बाहर होता हुआ स्वरूपाचरण चारित्र का उपभोग करता है, उसके मोह तो किसी सांसारिक वस्तु से होता नहीं, केवल चारित्र मोह सम्बन्धी अल्पराग द्वेष होता है, इससे उसके संसार के कारण भूत कर्म नहीं बंधते तथा पूर्वबन्ध कर्म की निर्जरा होती है। फल यह होता है कि उसका दीर्घ संसार छूट जाता है। वह ज्ञानी अंतरंग में वैरागी रहता हुआ लौकिक कर्मों का प्रयोजन वश करता हुआ भी उनके फल की इच्छा नहीं करता है, इसीसे वह अपने आत्मा को पूर्वबन्ध कर्मों से छुड़ाता रहता है। जो कोई उदासीन भाव से पिछले कर्मों के फल को भोग लेता है, उसके नवीन कर्मों का बंध नहीं होता, यदि कदाचित् कुछ रागद्वेष के कारण होता भी है, तो वह नहीं के समान है। अल्पस्थिति व अनुभाग लिये होता है जो शीघ्र छूट जायगा। इसीसे आचार्य ने कहा है कि जो अंतरात्मा है वह अपने आप को कर्मों से छुड़ाता है।

यह नियम भी है जो जिससे राग करेगा वह उससे बंधेगा तथा वह वस्तु उसके संग को न छोड़ेगी तथा जो जिससे वैरागी होगा उसका संग अवश्य छूटने का ही है, इसी से सम्यग्दृष्टि बंध से तथा देह से छूटता है।

आगे की उत्थानिका—देह के साथ अपनायत जोड़ने वाले बहिरात्मा के निन्दनीय व्यापार को दिखाते हुए आचार्य अपना खेद प्रगट करते हैं—

श्लोक—देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं जगत् ॥१४॥

अन्वयार्थ—(देहेषु) अपनी या दूसरों की देहों में (आत्मधिया) आत्मा की बुद्धि रखने से ही (पुत्रभार्यादिकल्पनाः) पुत्र, स्त्री आदि की कल्पनाएं

(जाता:) पैदा होती है। (हा) खेद है कि (जगत्) यह जगत् (ताभि:) उन्हीं स्त्री पुत्रादि से (आत्मनः) अपनी (सम्पत्ति) सम्पदा (मन्यते) मानता है; इसलिये (हतं) नष्ट भ्रष्ट हुआ है।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि बहिरात्मा को, क्योंकि भिन्न आत्मा के स्वरूप का श्रद्धान नहीं है, इसलिये उसे न आत्मा के अजर, अमर, अविनाशीपने का श्रद्धान है न परलोक में आत्मा जाता है, वहां अपने अपने कर्म का फल पाता है, इस बात का श्रद्धान है। जो बहुत मोटे संसार में लीन अज्ञानी जीव हैं उन का यही हाल है, वे इस मानव जीवन को ही अपना जीवन समझते हैं, उन्हें शरीर में ही सर्वस्व अपनापना दीखता है। वे शरीर के जन्म को जन्म व शरीर के मरण को मरण जानते हैं, पांचों इन्द्रियों के विषय भोगों को ही वे सुख समझते हैं। उन विषय भोगों में जो २ सहायक होते हैं उन से अज्ञानी जीव की गाढ़ प्रीति होती है, इसी से वह अपनी स्त्री से बहुत राग करता है। पुत्र, पौत्रों का अत्यन्त मोही होता है। धन सम्पत्ति भी इसीलिये बहुत पैदा करता है कि अपने कुटुम्ब के साथ खूब भोग करूं, पुत्र, पुत्री के विवाहादि में खूब धन खर्च करूं, अपना नाम कमाऊं, बस इस मिथ्या बुद्धि के द्वारा वह अज्ञानी स्त्री, पुत्र आदि के होते हुए अपने को सम्पत्तिवान् समझता है। रात्रि दिन उन्हीं की चिंता में फंसा रहता है। उन के सम्बन्ध से इस को जीवन भर के लिये इतना काम हो जाता है कि यदि १००० वर्ष की आयु हो तब भी उस का काम समाप्त न हो। इन्हीं के सम्बन्ध से कभी सुख मानता व कभी दुःख भी मानने लग जाता है। जब स्त्री पुत्रादि स्वस्थ हैं तब तो सुख और जब वे रोगी शोकी होते हैं, तब दुःख मान लेता है। स्त्री के लिये वस्त्र, आभूषण बनाने का, पुत्रजन्म के प्रबन्ध का, पुत्र के विवाह का, पुत्र के पुत्र होने का, उस पौत्र के पुनः विवाह का, पौत्र के पुत्र होने का, फिर उस के विवाह का इत्यादि कार्यों का प्रवाह सदा जारी रहे, ऐसी उस की लालसा होती है। कुटुम्ब की विषय कामनाओं की पूर्ति करता करता, उन के मोह में उन को हर तरह राजी करने की तदबीर करता करता, आप वृद्ध होकर मरण के निकट पहुंच जाता है; तो भी अपनी लालसा को किसी तरह कम

नहीं कर पाता है। अंत में पछताता हुआ मरता है कि हा ! मैं अमुक काम करे बिना चल दिया, यदि पौत्र के पौत्र का मुंह देख लेता तो मेरा जन्म सफल होता।

आचार्य्य महाराज को मन में खेद इसलिये आता है कि ये अज्ञानी जीव वृथा ही अपने जन्म को नष्ट करदेते हैं मानव जन्म पाने का कुछ भी फल नहीं पाते हैं राग द्वेष मोह में महान तीव्र कर्म बांधकर दुर्गति में चले जाते हैं सच्चे धर्म को व सच्चे आत्मस्वरूप को व सच्चे सुख को न पहचान कर वे विचारे अपने अज्ञान से अपने भीतर रही हुई सुख शान्ति को नहीं पाते हैं तथा संसार समुद्र से तिरने का यत्न करने का अवसर देने वाले मानव जन्म को पाकर भी मोक्ष मार्ग का कुछ भी साधन नहीं करते हुए अपने को संसार चक्र में फिरने वाला ही रखते हैं।

आचार्य को इस बात को सोचकर और भी खेद होता है कि यदि यह जीव सम्यग्दृष्टि होता और गृहस्थ में स्त्री पुत्रादि का उपकार करता व विषय भोग भोगता तो इसको गृहस्थ के बिना त्यागे हुए भी सुख शांति मिलती, कर्म बंध बहुत तुच्छ होता और भविष्य में सद्गति का पात्र होता, मिथ्या दृष्टि की अवस्था में इसे सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा कुछ अधिक निराकुलता व साता रहे ऐसा नहीं है किन्तु एकसी ही सामग्री व एकसा ही कुटुम्ब रहते हुए भी मिथ्यादृष्टि को बहुत आकुलता व बहुत कम साता है जब कि सम्यग्दृष्टि को कम आकुलता व बहुत अधिक साता है। मात्र अज्ञान तथा मिथ्या श्रद्धान के वशही इसने अपना बुरा किया। कर्मों की गठरी बांधकर संसार का पात्र हुआ, यदि इस की समझ ठीक होती अर्थात् यह आत्मा को पहचानता होता और स्त्री पुत्रादि लक्ष्मी से काम लेता, उनकी रक्षा करता पर उनके मोह में उन्मत्त न होता तो इस का जीवन दोनों जन्म में सुखदाई होता। देह में आत्म बुद्धि रखने व आत्मा में आत्म बुद्धि न करने से इस जगत के सर्व ही बहिरात्माओं की ऐसी दुर्व्यवस्था हो रही है। सर्व जगत सिवाय कुछ ज्ञानी अंतरात्माओं के अपने स्वरूप के ज्ञान से बाहर रहना हुआ भ्रष्ट हो रहा है। इसीसे आचार्य का अभिप्राय है अपनी अपनायत अपने आत्मा के यथार्थ ज्ञाता दृष्टा स्वरूप में करो जो अपनी आत्मा से बिल्कुल भिन्न रात्रि को वृक्ष पर बसेरा करलेने वाले

पक्षियों के समान स्त्री पुत्रादि हैं उनके मोह में अपने को मत भूलो हां जब तक उनका सम्बन्ध है तब तक उनका उपकार करो, पर अन्तरंग में सदाही यह समझते रहो कि इनकी आत्मा व इनके कर्म भिन्न हैं। तथा मेरी आत्मा व मेरे कर्म भिन्न हैं किसी आत्मा की सत्ता किसी आत्मा के आधीन नहीं, व किसी आत्मा का परिणमन किसी आत्मा के आधीन नहीं। इस तरह जल में कमल की तरह अलिप्त रह कर अपना जीवन सुख शांति में बिताओ।

आगे की उत्थानिका— आगे बहिरात्मा के स्वरूप को संकोचते हुए यह दिखलाते हैं कि इस बहिरात्मपने को छोड़कर अंतरात्मा को अपने आत्मा में प्रवेश करना चाहिये—

श्लोक—मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः ॥
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ— (संसारदुःखस्य) संसार के दुःखों का (मूलं) मूल कारण (देहे एव) शरीर में अर्थात् पुद्गल व पुद्गल सम्बन्धी पर्यायों में ही (आत्मधी :) आत्मापने की बुद्धि है (ततः) इसकारण से (एनां) इस मिथ्या बुद्धि को (त्यक्त्वा) छोड़कर ज्ञानी पुरुष (बहिरात्माव्यापृतेन्द्रियः) आत्मा से बाहर बाहरी इंद्रियों के विषय रूप पदार्थों में इन्द्रियों के व्यापार को न प्रवर्ताता हुआ (अन्त) अपने अन्दर (प्रविशत्) जावे अर्थात् अपने आत्मा में ही आत्मबुद्धि करे और अंतरात्मा होकर रहे और आत्मा का अनुभव करे।

भावार्थ—यहां आचार्य बताते हैं कि इस संसार में जो अनादिकाल से है यह जीव पुद्गलजड़ को अपना रूप मानता हुआ तथा अपना सिद्ध के समान शुद्ध स्वभाव न जानता हुआ मिथ्यात्वकर्म के उदय से मिथ्याअध्यवसाय में पड़कर पर में अहम्बुद्धि तथा पर में ममकार बुद्धि करता हुआ रागद्वेष भावों में परिणमन कर तीव्र कर्म बंध करता है और उस कर्म के उदय से नरक, पशु, मनुष्य आदि गतियों में पुनः पुनः भ्रमण कर जन्म, मरण, जरा, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, शारीरिकव्याधि, मानसिकआधि

क्षेत्र सम्बन्धी कष्ट आदि नाना प्रकार के असह्य दुःखों को भोगता है। तथा फिर भी रागद्वेष करता हुआ नवीन कर्मबंध कर लेता है। इस तरह जड़ को अपनाने से यह पुनः २ कर्म बांध फल भोगा करता और संसार में रुला करता है। इसलिये आचार्यने ज्ञानी पुरुषको शिक्षादी है कि तू इस झूठी पर में आपा मानने की बुद्धि को छोड़ अर्थात् कर्मों के उदय से जो तेरी भी अनेक अवस्थाएं होती हैं उनको भी केवल नैमित्तिक जान उन्हें अपने आत्मद्रव्य का स्वभाव न समझ-सिद्ध महाराज जैसे पवित्र आत्मा हैं वैसे तू अपने को पवित्र जान-तेरी और सिद्ध भगवान् की जाति एक है और तू इन्द्रियों के विषयों में सुख मानना छोड़ इन्द्रियों के विषय भोग का सुख तृप्तिकारी नहीं है, आकुलता रूप है, इससे इस सुख को उपादेय न समझ कर केवल अतीन्द्रिय सुख को ही उपादेय जान और अपनी अपनायत अपने आत्मा के सच्चे स्वरूप में कर और अंतरात्मा होजा।

अपने स्वरूप का साक्षात् अनुभव होजावे ऐसा आचार्य का अभिप्राय लिया जाये तो ये प्रयोजन निकलता है कि ज्ञानी जीव अपना उपयोग सर्व इन्द्रियों के व्यापारों से हटाकर उस उपयोग को भीतर प्रवेश करावे अर्थात् आत्मा में तन्मय हो स्वानुभव का आनन्द लेवे एक गृहस्थी न्याय पूर्वक इन्द्रियों के विषयों को सेवता हुआ भी अंतरात्मा रह सक्ता है। जैसे कोई उच्च कुली महाजन अपनी मोरी को मैल से भरी देखकर स्वयं झाड़ू और पानी लेकर उस मोरी को धोता है- यह काम वह करता है पर उस की गाढ़ रुचि नहीं है। उसे मैल धोने के लिये ऐसा करना पड़ता है। अथवा किसी के शरीर में भारी ज्वर है उस के दूर करने के लिये उसे कड़वी औषधि खानी पड़ती है। वह उसे रुचि से नहीं लेता है इसी तरह सम्यग्दृष्टि तत्त्वज्ञानी अन्तरात्मा गृहस्थ कषायों के जोर को दबाने के लिये असमर्थ होकर योग्य विषयों को सेवन करता है पर अंतरंग से उन्हें उपादेय या ग्रहण करने योग्य नहीं मानता है। उसकी गाढ़ रुचि अपने स्वरूप के अनुभव की ही होती है। जगत में बहुत से ऐसे काम हैं जो गाढ़ रुचि न होकर भी किये जाते हैं व करने पड़ते हैं। किसी राजा का कोई नोकर है, राजा यदि अपने शौक से किसी नाटक को देख रहा है

और नौकर की इच्छा नहीं है कि मैं नाटक देखने जाऊं तो भी उसे राजा के भय से उसे प्रसन्न करने के लिये राजा के साथ जाना पड़ता है और उस की क्रिया में पूरा सहयोग देना पड़ता है। इसी तरह तत्त्वज्ञानी भी पूर्व बंध कर्मों की तीव्रता से इन्द्रिय विषयों की बाधा को सहने में असमर्थ होकर विषय सेवन करता है तो भी वह अपने गाढ़ आत्मश्रद्धान के बल से अंतरात्मा ही रहता है। ऐसी दशा में भी उसे इन्द्रियों का व्यापारी नहीं कहते।

दूसरी अवस्था सम्यग्दृष्टि की वह है जब वह इन्द्रियों को संकोच करके आत्ममनन तथा आत्मानुभव करता है इस से भी ऊंची अवस्था वह होती है जब परिग्रहादि को छोड़कर सतत आत्मानुभवी रहने का यत्न करता है आचार्य का प्रयोजन यह है कि जब बहिरात्मपने की दशा दुःखदाई है तब इसका त्याग कर अवश्य अंतरात्मा होजाना चाहिये और अपने जीवन को सुखमय बिताने का उपाय करना चाहिये। संसार में दुःखों को उठाने का बीज कारण मात्र एक मिथ्याबुद्धि है असत् श्रद्धान सेही जीव का अनादि काल से भ्रमण होता है और इसको अपनी झूठी माँनन से ही बहुत दुःख उठाना पड़ता है जो अपनी बुद्धि यथार्थ कर लेता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि तत्त्वज्ञानी हो जाता है वह बाहर में दुःखों की सामग्री रहते हुए भी दुःखी नहीं होता यथार्थ वस्तु स्वरूप को विचार कर समभाव रखता है।

अंतरात्मापने को सुख का बीज जान भव्यजीव को धारण करना चाहिये ऐसा श्री पूज्यपाद स्वामी का अभिप्राय है।

आगे की उत्थानिका—अंतरात्मा अपने आत्मा में अपनी आत्मबुद्धि को करता हुआ यह समझता है कि अनादि काल से मुझे जिसपदार्थ का लाभ नहीं हुआ था सो पदार्थ मुझे मिल गया अर्थात् मैं अपने आत्मा को मिथ्या रूप अशुद्ध जान रहा था सो अब मैं उस के सच्चे स्वरूप को पहचान गया, मुझे एक अपूर्व लब्धि मिल गई इसतरह परम संतोषी होकर अपनी पहले की बहिरात्मपने की अवस्था को स्मरण करके विषाद करता हुआ इसतरह अपने मन में कहता है।

श्लोक—मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो विषयेष्वहम्।
तान् प्रपद्याहमिति मां पुरा वेद न तत्वतः ॥ १६

अन्वयार्थ—(अहं) मैं (मत्तः) अपने आत्मस्वरूप से (च्युत्वा) हट करके अर्थात् आत्मस्वरूप को न जान करके (इन्द्रियद्वारैः) इन्द्रियोंकी कामनाओं के द्वारा (विषयेषु) इन्द्रिय के विषय सम्बन्धी पदार्थों में (पतितः) गिरा पड़ा था अर्थात् अति आसक्ति से इन्द्रिय भोगों में लिप्त हुआ पड़ा था तथा (तान्) उन विषयों को (प्रपद्य) प्राप्त होकर अर्थात् ये विषय मेरे उपकार करनेवाले हैं ऐसा समझकर उनमें मगन होकर (पुरा) अनादिकाल से (अहम्) मैं आत्मा हूं शरीरादिक नहीं हूं (इति) ऐसा (मा) अपने आपको (तत्वतः) तत्व दृष्टि से अथवा परमार्थ से व निश्चय-नय से (न वेद) नहीं जानता हुआ अर्थात् नहीं अनुभव करता हुआ, इसीका मुझे बड़ा सोच है॥

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने बहिरात्मा से अंतरात्मा होने पर अंतरात्मा के मन के विकल्प को दिखाया है। बहुतवार ऐसा होजाया करता है कि हम अपने भ्रम से किसी को कुछ समझ कर अनेक कष्ट सह कर चेष्टा करते हैं पर जब पता चल जाता है कि ऐसा समझना हमारी भूल थी तब हमको पछताना पड़ता है। जैसे कोई मनुष्य देशहितके विचार से हमारे मरन्त्र में त्रुटियें देखकर उसकी बुराइयां हमें बताता है हम उस मनुष्य को अपना शत्रु समझ कर उससे मन में द्वेष रखते हैं तथा उसकी हानि होने का उपाय करते हैं प्रत्युत उसको हानि पहुंचा देते हैं। कुछ काल पीछे जब यह भ्रम दूर होजाता है कि यह हमारा अहित है तथा वह हमारा हितैषी है ऐसा विश्वास बैठ जाता है तब बहुत कुछ हमें पछ-ताना पड़ता है कि वृथा ही हमने इतने कालतक उससे द्वेषभाव किया, यह हमारी बड़ी भूल हुई, हमें उसकी बातपर ध्यान देकर अपनी त्रुटियों को मिटाना उचित था। अथवा जैसे किसीने किसी नौकर को नोकरी में रक्खा, उसका विश्वास कर लिया कि यह मेरा हितू है पर था वह चोर। वह जब अवसर पाता था हमारे माल की चोरी कर लिया करता था। हमें

जब कालांतर में इसका भेद मालूम हुआ कि यह नौकर तो हमारा अहित् है, चोर है तब हमें उसका विश्वास उठ जाने के साथ साथ यह भी रंज होता है कि हमने बड़ी भूल की, इतने दिन इस चोर का विश्वास कर अपना बहुत बिगाड़ किया–इसी तरह यह अन्तरात्मा पश्चात्ताप करता है कि मैंने इन्द्रियों की इच्छाओं के आधीन हो अनादिकाल से अबतक इन्द्रिय विषय भोगों को ही अपना सर्वथा हितू समझा तथा उनके भीतर अति आसक्ति होने से मैंने बहुत कुछ न्याय अन्याय किया, परलोक की भी चिन्ता नहीं की और अपने आपको बिलकुल भी न समझा। सदा अपने को शरीररूप ही माना किया। कभी ऐसा न जाना, न श्रद्धान किया और न अनुभव किया कि यथार्थ में मेरे आत्मा का स्वभाव कर्मकलंक रहित, राग द्वेष मोह रहित ज्ञानमई, आनन्दमई, परम वीर्यमई, निराकुल शुद्धस्फटिकवत् निर्मल, अमूर्तीक, असंख्यात प्रदेशी अनन्त गुण पर्यायों का पिंड चैतन्य धातुमई सिद्ध भगवान् के समान शुद्ध है। मैंने इन्द्रिय विषय भोगोंको अपना उपकारी जाना। यह बड़ी भूल की उन्हींके मोहजाल में पड़ परम सुख समुद्र अपने आत्मा को न पहचाना–उन्होंने मेरा बड़ा भारी अपकार किया–तीव्र पाप बंधाय मुझे संसार में रुलाया–मैंने विषयों में अन्धा होकर बहुत कुछ हिंसा, चोरी, झूंठ, व्यभिचार, आदि कुकर्म किये, जिससे घोर पाप बांधे और दुर्गति में जाकर महावेदनाएं भोगीं–वास्तव में मैंने अपने आपका घात ही किया–इस परम प्रभु आत्मा को निगोद की एक सांस में १८ बार जन्म मरण करनेवाली पर्याय में भी डाल दिया, जो मेरे ज्ञान दर्शन सुख वीर्य, सम्यक्त, चारित्र आदि गुणरूपी रत्नों के चुरानेवाले थे, उनको अपना प्यारा समझकर अपना बहुत कुछ बिगाड़ किया–इस तरह पछतावा करके अपने को आज धन्य मानता है कि वह अनादि भूल मिटी और अपने सच्चे स्वरूप को जाना तथा इन्द्रिय चोरों का कर्तव्य विश्वास में आया। इस कथन से आचार्य ने अंतरात्मा के विश्वास की शुद्धता को बताया है। जबतक पक्का विश्वास अपने स्वरूप का नहीं होजाता तबतक ऐसा विचार नहीं होता–आचार्य का अभिप्राय है कि अन्तरात्मा होनेवाले का ऐसा भाव मन में दृढ़ करना चाहिये तब उसकी अन्तरात्मा बुद्धि दृढ़ होगी और वह बहिरात्मपन से रक्षित रहेगा।

आगेकी उत्थानिका—अब अन्तरात्मा को अपने आत्मा को जान कर उसके अनुभव करने का उपाय बताते हैं:—

श्लोक-एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः।
एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः॥ १७

अन्वयार्थ—(एवं) जैसा कि आगे बतायंगे उस रीति से (बहिर्वाचं) पुत्र, स्त्री, धन, धान्य सम्बन्धी बाहर कहे जानेवाले शब्दों को (अशेषतः त्यक्त्वा) सर्व तरह से छोड़कर पीछे (अतःवाचं) अन्तरंग की वचन प्रवृति को कि मैं शिष्य हूं, गुरु हूं, सुखी हूं, दुःखी हूं, चेतन हूं, असंख्यात प्रदेशी हूं, अनन्त गुणपर्याय स्वरूप हूं, इत्यादि सम्पूर्ण मनके विकल्पों को (अशेषतः) सम्पूर्णपने (त्यजेत्) त्याग देवे। (समासेन) संक्षेप से (एषः) यह (योगः) योग अर्थात् अपने स्वरूप में चित्त का रोकना या समाधि भाव (परमात्मनः) परमात्मा के स्वरूप का (प्रदीपः) प्रकाश करनेवाला है।

भावार्थ—अब यहां आचार्य समाधिभाव पाने का उपाय अन्तरात्मा को बताते हैं जो प्रयोजन इस ग्रन्थ लिखने का है। अपने स्वरूप में एकीभाव होजाना समाधि है। वहीं स्वानुभव की प्राप्ति होती है। उस समय मन वचन काय की क्रियायें बंद होजाती हैं। समाधि के लाभ के लिये मनुष्य को निश्चल आसन से बैठना चाहिये-और काय की क्रिया को बंद कर देना चाहिये फिर बाहरी वचन की प्रवृति को बंद करना चाहिये अर्थात् किसी भी स्त्री, पुत्र, मित्र, सेवक आदि से किसी प्रकार का भी वचनालाप न करना चाहिये यहांतक कि धर्म चर्चा को भी रोक देना चाहिये तथा मंद मंद भीतर २ कुछ जप करना व पाठ पढ़ना इसको अंतर्जल्प कहते हैं इसे भी बंद कर देना चाहिये तथा मन में जो चिन्तवन होता है कि मैं ऐसा हूं, ऐसा था, ऐसा हूंगा व मैं ज्ञानरूप हूं, दर्शनरूप हूं, चारित्ररूप हूं, इत्यादि उसे भी बंद कर देना चाहिये। जब सम्पूर्ण प्रकार से मन वचन काय की बुद्धि पूर्वक प्रवृति बन्द होजाती है तब आत्मा का उपयोग आत्मा में ही डूबता है, उसी में ही तन्मय होता है।

उसी समय योग पैदा होजाता है। इसी योग को ध्यान तथा समाधि भी कहते हैं। यहीं पर निश्चय रत्नत्रय का लाभ है तथा व्यवहार रत्नत्रय भी उसी में गर्भित है जैसे कि श्री नागसेन मुनि ने श्री तत्वानुशासन में कहा है:—

श्लोक-स च मुक्ति हेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि
तस्मादभ्यसन्तु ध्यानं सुधियः सदाप्ययास्यालस्यं ॥३३॥

भावार्थ—इस प्रकार का जो निश्चय व्यवहार रूप मोक्ष मार्ग है सो क्योंकि ध्यान के भीतर प्राप्त हो जाता है इसलिये बुद्धिमानों को सदा ही आलस्य को त्याग कर इस ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। क्योंकि वास्तव में सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आत्मा के गुण हैं, अर्थात् आत्मा इन तीन स्वभावों से खाली नहीं है इस लिये जहां उपयोग की किरिया मिटती है, और उपयोग अपने आत्मा में आपही तन्मय हो जाता है। वहां निश्चय रत्नत्रय साक्षात् मोक्ष मार्ग अवश्य है तथा क्योंकि कायाकी क्रियाएं भी संकुचित रूप हैं तथा अन्तरंग में पदार्थों का ज्ञान श्रद्धान भी है इसलिये वहां व्यवहार रत्नत्रय भी है यद्यपि वहां मन में किसी क्रिया के व किसी अन्य प्रकार के विकल्प नहीं है। इस तरह योग रूप होने से जो स्वानुभवरूप ध्यानाग्नि जलती है वह काष्ठ के समान कर्मरूपी ईंधन को तो जलाती है और अज्ञान अंधकार को दूर करके परमात्मा का स्वरूप प्रकाश में लाती है, यही मोक्ष का उपाय है। इसी सतत स्वानुभव से संवर पूर्वक निर्जरा होती है और आत्मा धीरे २ शुद्धता को प्राप्त करता जाता है। आगे आचार्य इस योग साधन के ही उपायों का निर्दोष खुलासा करेंगे उन्हीं के लिये यह कथन पीठिकारूप समझना चाहिये।

आगे की उत्थानिका—आगे कहते हैं कि बाहिरी वचन की प्रवृत्ति का त्याग करने के लिये अंतरात्मा को ऐसा विचारना चाहियेः—

श्लोक—यन्मयादृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततःकेन ब्रवीम्यहम् ॥१८॥

अन्वयार्थ-(यत् रूपं) जो शरीर आदि इन्द्रिय गोचररूपी पदार्थ (मया) मेरे द्वारा (दृश्यते) इन्द्रियों से जाना जाता है (तत्) वह पदार्थ सर्वथा अचेतन होने से (सर्वथा) बिल्कुल भी अर्थात् कहे हुए वचन को भी (न जानाति) नहीं जानता है। इसलिये जो जड़रूपी पदार्थ हैं उन से बात क्या कहनी, जो जान सकते हैं उन्हीं से बात कहनी उचित है। तथा (जानन् रूपं) जो जानने वाला चेतन स्वभाव है वह (न दृश्यते) दिखलाई नहीं पड़ता है अर्थात् इन्द्रियो के द्वारा जानने में नहीं आता है क्योंकि वह अमूर्तीक, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण रहित है (ततः) जब ऐसी दशा है तब (अहम्) मै (केन) किस के साथ (ब्रवीमि) बात करूं १८॥

भावार्थ-यहां पर आचार्य बोलने का झगड़ा छुड़ाकर अंतरात्मा को अनुभव कराने का उपाय बताते हुए द्रव्यार्थिक नय को प्रधान कर उसे जगत का स्वरूप बताते हैं कि द्रव्य की दृष्टि से देखा जाय तो हर एक प्राणी में प्रगट क्रिया करने वाले दो ही द्रव्य हैं पुद्गल और जीव।

पुद्गल द्रव्य का स्वरूप देखा जाय तो वह बिल्कुल अचेतन जड़ है, वह कुछ समझ नहीं सकता। यद्यपि वह देखने में भी आता है तथापि वह ज्ञान शून्य है, इस से उस को कोई बात कहे तो वह सुन नहीं सकता। जीव द्रव्य का स्वभाव देखा जाय तो वह यद्यपि चेतन है तथापि अमूर्तीक होने से हमारी इन्द्रियो से वह दीखता नहीं, जब हम उसे देख ही नहीं सकते तब उस से बात ही क्या करें। दूसरी बात यह है कि जीव का स्वभाव ऐसा है कि वह ज्ञाता दृष्टा है पर उस के मतिज्ञान श्रुतज्ञान नहीं है, इससे इंद्रियों के द्वारा देखने का व सुनने का काम वह नहीं कर सकता। यदि वह सुन करके हम से बात कर सके व हमें उत्तर दे सके तो बात करना भी ठीक है, पर जब जीव का स्वभाव संकल्प विकल्प रहित शुद्ध निर्विकार राग द्वेषादि मैल से रहित है, तब उस का सुनकर विकल्प करना फिर हमें उत्तर देने का विकल्प करना असम्भव है। क्योंकि द्रव्यार्थिक शुद्धनय से आत्मा का स्वभाव श्री अमृतचंद महाराज ने इस भांति कहा है-

श्लोक-आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्त विमुक्तमेकं
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति १८

भावार्थ-शुद्ध निश्चयनय ऐसा बतलाती है कि आत्मा का स्वभाव परभाव से जुदा, अपने गुणों से पूर्ण, आदि व अन्त से रहित, एक रूप तथा संकल्प विकल्प के जालों से रहित है।

अनुभव के लिये अभ्यास करने वाले अन्तरात्मा के लिये यही उचित है कि वह अपने आत्मा को तथा जगत को द्रव्यदृष्टि से देखे-जब ऐसा देखेगा तब अवश्य समता प्रकाशमान हो जायगी। इस दृष्टि से देखते हुए हर एक मनुष्य में आत्मा और पुद्गल दो द्रव्य अलग २ दीखते हैं। ऐसा देखते हुए वचनों का कहना सुनना बनता ही नहीं, जैसे पुद्गल जड़ होने से बात सुनने व कहने से लाचार है, वैसे जीव शुद्ध निर्विकार होने से बात के सुनने व कहने के झगडे में नहीं पड़ सक्ता। इस तरह अन्तरात्मा को अपने भीतर विचार कर किसी से बात करने का भाव बिलकुल मन से निकाल देना चाहिये।

विचार के समय वार्तालाप करने का भाव भी बाधक है। आचार्य ने बहुत ही अपूर्व युक्ति से अंतरात्मा की वचन प्रवृत्ति को हटाया है। साधक प्राणी को उचित है कि इस बात पर पूरा लक्ष्य देकर मनन करके इसे पक्का समझ ले।

आगे की उत्थानिका—अब अंतरात्मा के लिये आचार्य बताते हैं कि वह अपने भीतर के विकल्प को छोड़ने का क्या यत्न करे? सो आगे कहते हैं कि उसे इस तरह विचार करना चाहिये।

श्लोक—यत्परैः प्रतिपाद्योहं यत्परान् प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः॥१६॥

अंतरात्मा विचार करता है कि (यत्) जो कुछ परे (अहम्) मैं (परैः) दूसरे से अर्थात् उपाध्याय आदिकों से (प्रतिपाद्य) समझाने योग्य हूं तथा (यत्) जो कुछ (परान्) दूसरों को अर्थात् शिष्यों को (प्रतिपादये) मैं समझता हूं (तत्) वह सब (मे) मेरी (उन्मत्त चेष्टितं) उन्मत्तपने की चेष्टा [illegible] मोह के आधीन होकर मेरे मन का यह सब [illegible] है [illegible] की क्रिया वैसी यह मेरी क्रिया है (यत्) क्यों [illegible] मैं जो [illegible]

सो (निर्विकल्पकः) सब प्रकार के भी विकल्पों से रहित हूं अर्थात् आत्मा वचन विकल्पों से कभी ग्रहण में नहीं आसक्ता, सो ही मैं हूं।

भावार्थ—यहां पर आचार्य अंतरात्मा को भीतरी विकल्प हटाने की शिक्षा देते हैं कि उसे ऐसा विचार करना चाहिये, मेरे आत्मा का स्वरूप केवल अनुभव गम्य है–वह किसी भी विकल्प में पड़ा नहीं है–न किसी भी विकल्प से या वचन के भेद से उसका अनुभव होसक्ता है, इसलिये मेरा ऐसा सोचना कि मुझे कोई आत्मा का स्वरूप अनुभव करादेगा, या मैं दूसरे को समझा करके उसे आत्मा का ग्रहण करादूंगा, केवल उन्मत्त के विचार के समान है। जो काम नहीं होसक्ता है उसको करना व उसके करने का विकल्प करना केवल मात्र वृथा कार्य्य है। आत्मा जब निर्विकल्प है अर्थात् अभेद है, अनन्तर गुणों का समुदाय है, तब इसका वर्णन वचनों से होना कठिन है–वचनों से केवल इशारा मात्र होता है, कोई ऐसा दावा करे कि मैं वचनों से दूसरे को समझा दूंगा व दूसरा मुझे समझा देगा सो असंभव है–आत्मा का ज्ञान तब ही होगा जब उस आत्मा का अनुभव होगा— इसी से इसे विकल्प रहित कहते हैं—ध्यान में बैठ कर मनन करने वाले को उचित है कि जैसे बाहिरी वचनों की प्रवृत्ति छोड़े वैसे अंदर के मन के विकल्पों को भी त्यागे। सर्व वचन और मन के विचार जिनसे सम्बन्ध अपने आत्मा के सिवाय पर वस्तुओं से है उनको बिलकुल छोड़देना चाहिये और आत्मानुभवी को पहले आत्मा के स्वरूप का मनन करना चाहिये, फिर मनन करते करते वह जब स्वरूप में थिर हो जाता है तब स्वानुभव पैदा होता है। यहां पर भी आचार्य्य ने निश्चयनय को प्रधान करके कहा है, उसी दृष्टि से यह बात कहने में आती है कि आत्मा अनुभव गोचर है, जो बात वास्तविक है उसी को निश्चयनय कहते हैं। इस तरह वह अंतरात्मा जो अपने स्वरूप के अनुभव का प्रेमी है, सर्व बाहिरी और भीतरी विकल्पों को छोड़ कर आत्मारूपी बाग में ही क्रीड़ा करने लगता है, और वहीं जमकर स्वरूपानंद का परम स्वाद लेता है।

आगे की उत्थानिका–आचार्य कहते हैं–वह आत्मा का स्वरूप जो विकल्पों से रहित है, वह ऐसा अंतरात्मा के अनुभव में आता है:—

श्लोक—यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति ।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो शुद्धात्मा का स्वरूप है वह (अग्राह्यं) अपने स्वरूप से बाहर जो ग्रहण में आने योग्य नहीं है अर्थात् कर्मपुद्गल व कर्म के उदय के निमित्त से होनेवाले क्रोधादि भाव उसको (न गृह्णाति) नहीं ग्रहण करता है अर्थात् अपने आत्मस्वभावरूप नहीं करता है तथा (गृहीतं) जो अनन्त ज्ञानादि स्वरूप को आत्मा ग्रहण किये हुए है, उसको (नापि) तो भी नहीं (मुञ्चति) छोड़ता है। तथा (सर्वं) सर्व चेतन अचेतन वस्तुमात्र को (सर्वथा) सब तरह से उनके अनंत गुण व पर्यायों करके सहित (जानाति) जानता है (तत्) वह (स्वसंवेद्यं) अपने ही द्वारा अपने अनुभव में आने योग्य (अहम्) मैं आत्मा (अस्मि) हूं।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय व पर्यायार्थिक नय को बिलकुल गौण कर दिया है तथा शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से कहा है कि यह आत्मा आत्मरूप रहता है। जितने अनन्त गुण व स्वभावों का यह अखंड पिंडरूप एक द्रव्य है, उन गुणों में से एक भी गुण को त्यागता नहीं तथा अपने सिवाय अन्य किसी द्रव्य व किसी गुण के किसी अंश को कभी ग्रहण नहीं करता है। असल में देखा जाय तो वस्तु का स्वभाव ऐसा ही है। हरएक द्रव्य में साधारण गुण अगुरुलघु व्यापक है, जिसका यही काम है कि उस द्रव्य को व उस द्रव्य के गुण को किसी भी तरह अपनी मर्यादा से बाहर नहीं जाने देता है। अर्थात् जीव कभी पुद्गल नहीं हो सकता व पुद्गल कभी जीव नहीं हो सक्ता। जो ज्ञानदर्शन सुख, वीर्य आदि विशेष गुण जीव के हैं, वे जीव में तथा जो स्पर्शरस गंधवर्णादि पुद्गल के गुण हैं, वे पुद्गल में सदा रहते हैं। यदि ऐसा न हो तो जीव पुद्गल की संगति से पुद्गल होजावे व पुद्गल जीव की संगति से जीव होजावे, सो कभी भी नहीं होता है—किसी द्रव्य के गुणों का दूसरे द्रव्य के सम्बन्ध से प्रच्छादन तो हो जाता है, पर वह गुण उसमें से चला जाता नहीं—यदि १ तोले सुवर्ण में १० तोले चांदी मिला कर कोई आभूषण बनावें तो सोने का पीतादि गुण बहुत कुछ ढक जावेगा, परन्तु सोने का सोनापना अर्थात्

उसका कोई भी गुण उस सोने में से नष्ट नहीं होसक्ता, क्योंकि प्रयोग करके कारीगर ११ तोले के पिंड में से १० तोले चांदी को व १ तोला सुवर्ण को अलग अलग कर देता है।

पानी में दूध मिला देने पर भी हंस दूध दूध को पहचान कर पीलेता है और पानी को छोड़ देता है—दूध पानी मिले तौ भी दूध पानी हुआ नहीं, तथा पानी दूध नहीं हुआ।

ऐसा ही स्वभाव हर एक वस्तु का है। जैसा पहले कहा जा चुका है, मूल द्रव्य जो २ अपने अपने स्वभावरूप हैं वे कभी भी पर द्रव्यों से मिलने पर भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते, तथा आत्मा भी अनादि कर्मों से बंधा होनेपर भी कभी भी अपने स्वभाव से रहित न हुआ—अरहंत अवस्था में वे ही गुण जो प्रच्छन्न थे, प्रगट होजाते हैं। इसी नियम के अनुसार विचार करने पर आचार्य ने बताया है कि अंतरात्मा के अनुभव में ऐसा श्रद्धायुक्त दृढ़ भाव व उसका संस्कार होता है कि वह *सिवाय आपके अन्य* को ग्रहण नहीं करता—अपना नहीं मानता। जो अपने भी गुणों की औपाधिक अवस्था पुद्गल कर्मों के उदय से होती है, उनको भी अपने स्वभाव से भिन्न अनुभव करता है। केवल शुद्ध पारिणामिक स्वभावरूप आपको जानता है, क्योंकि आप ज्ञायक है, इससे मैं सर्व को जाननेवाला हूं, परन्तु जिनको जानता हूं, उन रूप होता नहीं, और न वे मुझ रूप होते हैं, ऐसा मानता है। *तथा यह समझता है कि मैं अपने ही द्वारा* अनुभवने योग्य हूं तथा जो अनुभवने योग्य है, वही मैं हूं—इसतरह आचार्य ने अनुभव दशा जो विकल्परहित दशा है उसका स्वरूप शब्दों में बताया है। इसका भाव यह न समझना चाहिये कि वह ऐसा विकल्प किया करता है, जबतक यह विकल्प रहता है, तब तक अनुभवदशा नहीं होती।

आचार्य ने पढ़नेवाले को निर्विकल्प अनुभव दशा का दृश्य दिखाकर *अनुभव के समय के ज्ञान की महिमा बताकर* स्वानुभव की तरफ आकर्षित किया है।

आगे की उत्थानिका—अब अंतरात्मा इस प्रकार आत्मज्ञान व स्वानुभव की प्राप्ति करके जब सविकल्प दशा में आता है तब यह विचारता है, कि ऐसे आत्मज्ञान होने के पहिले मेरी चेष्टा किस प्रकार की रहचुकी है—

श्लोक—उत्पन्न पुरुषभ्रान्तेः स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम् ॥
तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्मविभ्रमात् ॥२१॥

अन्वयार्थ—(यद्वत्) जिस तरह (स्थाणौ) स्थाणु या खंभे में (उत्पन्न पुरुष भ्रान्तेः) पैदा हुआ है, पुरुषपने का भ्रम जिसके उसकी (विचेष्टितम्) नाना प्रकार की विपरीत चेष्टा होती है। (तद्वत्) उसही प्रकार से (पूर्वं) पहले (आत्मविभ्रमात्) आत्मा में भ्रम होने से या आत्मा को उल्टा समझने से (देहादिषु) शरीर आदि के सम्बन्ध में (मे) मेरी (चेष्टितं) चेष्टा हुई।

भावार्थ—यहां पर अंतरात्मा विकल्प सहित अवस्था में ऐसा विचार करता है कि मैंने आत्मज्ञान होने के पहले बहुत भारी भूल की और उस भूल से बहुतसा क्लेश उठाया।

जैसे कोई पुरुष भूल से कहीं पर किसी खंभे को पुरुष समझ कर डर कर भागे या उसे कोई अपना सगा समझ कर उसके लिये अनेक सामग्री इकट्ठा करने में लगजावे और बहुत मिहनत उठावे, पीछे जब उसको मालूम पड़े कि यह तो पुरुष नहीं है, किन्तु खंभा है। तब अपनी मूर्खता पर बहुत पछताता है कि मैंने बहुत भूल की, और उस समय से खंभे को खंभा समझने लगता है तथा खंभे के साथ खंभे का सा ही व्यवहार करता है। उसी तरह मैंने जड़ पुद्गलमयी शरीर को तथा धन धान्यादि को व अन्य स्त्री पुत्रादिकों व रागद्वेषादि भावों को अपना ही माना। मैं शरीररूपही हूं तथा इन्द्रियभोग करना ही मेरा कर्त्तव्य है तथा यही सुख का उपाय है—ऐसा समझा, और मैं शुद्ध चैतन्य धातुमयी अनंतगुणों का समुदायरूप उत्पादव्यय ध्रौव्यस्वरूप परम अतींद्रिय सुखमयी आत्मा हूं ऐसा न समझा, इसीसे अनादि काल से मुझको नाशवंत शरीर व छूट जानेवाले पुत्र, स्त्री, धनादि के लिये ही रात दिन चिन्तित होना पड़ा, उनके संयोग में कुछ हर्ष तथा उन के वियोग में बड़ा शोक उठाना पड़ा। उनके लिये नाना प्रकार हिंसा, चोरी, झूंठ, कुशील, परिग्रह आदि पाप किये, अन्याय करने में भय न किया, दूसरों को सताने में कुछ ग्लानि नहीं की, स्वार्थ साधन में अन्धा होकर यथा २

अनर्थ किया जिसको याद आने से भी कपनी शुरू होती है। नरभव समान जन्म जो आत्मोपकार के लिये बड़ा भारी निमित्त था, उसकी मैंने कुछ परवाह न की, कौड़ियों के मोल रतन को गंवाया, ईंधन के लिये चन्दन को जलाया, पैर धोनेमें अमृतसे काम किया, महापाप बांधकर खोटी गतियोंमें गया, वहां अनेक संकट उठाये—निगोद की एकेन्द्रिय पर्याय में एक श्वास में जिसको नाड़ी का चलना कहते हैं, १० दफे जन्मा, और मरा। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पतिकाय में बारबार जन्म पाकर रौंदा, औटाया, बुझाया, चलाया तथा काटा छीला, रांधा गया, लट, कौड़ी, संख आदि द्वेन्द्री के शरीर में भी रत होगया—रसना की लोलुपता में जन्म गंवाया, उस शरीररूप अपने को माना और बड़े कष्ट से प्राण त्यागे, तेन्द्री पर्याय में चींटी, ज्यूं, खटमल आदि भया, नाक के विषय में बहुत मोहित रहा। लोभ की तीव्रता में दबकर, छिल कर, भिड़कर, कुटकर आदि अनेक कष्टों से मरा, चौइन्द्री पर्याय में मक्खी, भौंरा, पतंगा, भिड़ आदि भया, नेत्रादि इन्द्रियों के वशीभूत हो जल भुनकर दूध, दही, मलाई, मिठाई, आदि में पड़कर व मल, थूक आदि में फंसकर प्राण गंवाए, पंचेन्द्री असैनी जल के सर्प आदि होकर सबलों से दुःख उठाए। पंचेन्द्री सैनी अनेक प्रकार के भेड़, बकरी, गाय, भैंस, बंदर, हिरन, घोड़े, हाथी आदि पशु होकर व कौवा, कबूतर, मैना, तोता, तीतर आदि पक्षी होकर व नाग, कछुवा, मेढक आदि होकर सबलों से मार खाई, भूख प्यास की वेदनाओं से मरा, दुष्ट शिकारियों व मांसाहारियों व कसाइयों द्वारा निर्दयता से मारा गया—पांचों इन्द्रियों के विषय के लोभ में फंस कर उन्हीं का दास बना रहा—कभी भी वहां अपने आपको न समझा—इस तरह ८४ लाख योनियों के भीतर इस जगत में, मैं भ्रमा—जिस शरीर में गया उसी में पर्याय बुद्धि रहा, ज्ञान की दृष्टि न पाई। मेरे इस अज्ञान भाव होने से मैंने कभी भी सर्व से भिन्न एकाकार आत्मा का अनुभव नहीं किया। अपने पास अनुभव आनन्द रहते हुए भी उसको न पहचाना—सुख की तृष्णा में घर की ही सेवा की। महा विपदाएं उठाई शास्त्रों में भी कहा है और बुद्धि भी कहती है कि तीव्र मिथ्यात्व व कषाय से अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ से जीव को घोर पाप कर्म का बंध

होता है। मैंने इसी भाव से घोर पाप बांध, संसार चक्र में बहुत से बहुत परावर्तन किये—इस मेरी मिथ्या बुद्धि को धिक्कार हो। यदि मैं अज्ञानी न होता, तो मेरा बड़ा भारी अलाभ जो अनादि से हुआ वह न होता।

जिसतरह बलदेवनारायण के मृतक शरीर को भ्रम बुद्धि व मोह से सजीवित समझकर छः मास तक लिये लिये फिरते हैं, उठाते बैठाते हैं, खिलाने पिलाने, वस्त्र पहनाने; बात करने आदि का उद्यम करते हैं, परन्तु मृतक शरीर में चेष्टा न होते देख कर क्लेश के मारे अत्यन्त त्रासित होते हैं, जब छः मास बीतने पर उनको किसी निमित्त से यह ज्ञान होता है कि यह तो मृतक देह है—नारायण का आत्मा तो इस में से तब ही चला गया था, तब अपनी कुचेष्टा पर बहुत बड़ा पश्चात्ताप करते हैं। उसी तरह आज मैं पश्चात्ताप करता हूं, कि मैंने मृतकसम इस देह को अपना समझा और उस के लिये वृथा ही घोर दुःख सहे।

इस तरह अंतरात्मा अपनी पिछली अवस्था को याद करता है, यहां पर आचार्य ने दिखलाया है कि अंतरात्मा को इस तरह पक्का हो जाना चाहिये कि वह भूल कर भी फिर पर्याय बुद्धि में न फंसे।

आगे की उत्थानिका—अब अंतरात्मा विचारता है कि सच्चा ज्ञान होजाने पर मेरी कैसी चेष्टा हो जाती है।

श्लोक—यथाऽसौ चेष्टते स्थाणौ निवृत्त पुरुषाग्रहे॥
तथा चेष्टोस्मि देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः॥२२॥

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (असौ) वही पुरुष जिसको खंभे में पुरुषपने का भ्रम होगया था (स्थाणौ) खंभे में (पुरुषाग्रहे) पुरुषपने का हठ (निवृत्ते) दूर हो जाने पर (चेष्टते) यथा योग्य चेष्टा करता है। अर्थात् खंभे को पुरुष मानकर जो डरना भागना व अन्य प्रकारादि करने का उद्यम था, उसको छोड़ देता है। (तथा) तैसे मैं (देहादौ) शरीर आदि के सम्बन्ध में (विनिवृत्तात्मविभ्रमः) आत्मपने का भ्रम या मिथ्यात्व दूर होजाने पर (चेष्टोस्मि) यथायोग्य रीति से वर्तन करता हूं।

भावार्थ–यहां पर अंतरात्मा अपनी वर्तमान अवस्था को विचार करता है कि अब मुझे जो आत्मज्ञान हुआ है, इससे मेरी जो चेष्टा शरीर, स्त्री, पुत्रादि वह इन्द्रियों के विषयों में पहले थी, सो बिलकुल बदल गई है। पहले मैं इन्द्रिय विषय के सुख को ही अपना सर्वस्व मानता था और मेरा सारा लौकिक व्यवहार इसी हेतु से था। यहांतक कि जो कुछ दान धर्म भी मैं करता था, उस में भी यही उद्देश्य दिल में रखता था। परंतु अब मेरे जीवन का उद्देश्य बदल गया है, अब मैंने अतीन्द्रिय सुख को पहचान लिया है तथा उसका स्थान अपने आत्मा को ही जाना है। इस से मेरे को आत्मानुभव का साधन मुख्यता से करना है, इसीसे मेरी अंतरंग की गाढ़ रुचि है। जैसी रुचि क्षायिक सम्यग्दृष्टि गृहस्थ कार्य्य में लगे हुए चक्रवर्ती राजा की शांति, कुंथु, तथा अरह तीर्थंकरों की थी व परम गृहस्थ श्री ऋषभ भगवान्‌की गृहवास के समय में थी, वैसी रुचि मेरे में गाढ़ जम गई है। तथा जैसे चरित्र मोह के उदय से वे तीर्थंकर आदि राजा सम्यग्दृष्टि बहुत काल तक गृहस्थी में रहे और अनाशक्तपने से अर्थ और काम पुरुषार्थ साधते रहे, मुख्यदृष्टि निज आत्मा के अनुभव पर रक्खी, वैसे मैं जब तक मेरे चरित्र मोह का उदय है, गृहवासन छोड़ते हुए अनाशक्तपने से अर्थ और काम पुरुषार्थों को साधन करता हूं। अब मैं शरीर को एक झोंपड़ीमात्र समझता हूं। इसकी रक्षा बनी रहे, इस लिये इसको भोजन पान देता हूं और इससे काम लेता हूं। अब मैंने अनावश्यक अभक्ष्य पदार्थों से शरीर को पुष्ट करना छोड़ दिया है, यथासंभव ऐसा भोजन करना चित्त में धारा है जिससे शरीर में कोई प्रकार की बीमारी न हो, तंदुरुस्ती भली प्रकार बनी रहे। स्त्री को पहले विषय सेवन की मैशीन समझता था अब मैं उसको अपनी अर्द्धांगिनी समझता हूं तथा उसे अपने धर्म सेवन में सहकारी जानता हूं। अब मेरा उसकी आत्मा का सुधार की तरफ जितना ध्यान है, उतना ध्यान उस के शरीर के मोह में नहीं, किन्तु उसके शरीर की तन्दुरुस्ती की रक्षा में तो अवश्य है। मेरा कर्तव्य उसे धर्म मार्ग बताना व उससे शुद्ध रसोई प्राप्त करना है, जिस से बुद्धि निर्मल रहे। पुत्रों की तरफ भी मेरा मोह दूसरे प्रकार का हो गया है। मैं अब यही ठीक समझता हूं कि उन्हें लौकिक और पारलौकिक विद्या में शरीर में बली बनाऊं तथा उन का विवाह

प्रौढ़ अवस्था में करूं, जिससे उन का जीवन योग्य बने और वे आत्महित व परोपकारी तथा साहसी बनें। पुत्रियों को भी चेलना, चन्दना, अनन्तमती के समान विद्यासम्पन्न बनाना, मैं ठीक समझता हूं। जिससे वे भी अपना जीवन धर्माचरणपूर्वक निबाहें।

अब मैंने धन को अन्याय से कमाने की घृणा पैदा की है तथा विवाह शादी आदि लौकिक कामों में व्यर्थ खर्च करने का भाव दूर किया है। आवश्यक लौकिक कामों में यथासंभव कम खर्च करता हू। जहां तक हो धनको बचाकर उसे धर्म की वृद्धि, विद्या की उन्नति तथा परोपकार में लगाता हूं। ज्ञानपूर्वक बर्तना ही मेरे जीवन का मुख्य उद्देश्य है। इस प्रकार अन्तरात्मा विचार का परम संतोषी होता है।

आगे की उत्थानिका—आत्मानुभव के लिये अन्तरात्मा विचारता है, कि मेरी आत्मा में लिंग भेद व संख्या भेद नहीं है, किंतु इन विकल्पों से रहित एक साधारण स्वभाव है।

श्लोक—येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥२३॥

अन्वयार्थ—(येन) जिस (आत्मना) चैतन्य स्वरूप करके (अहम्) मैं (आत्मनि) आत्मा के विषय (आत्मना) अपने स्वसंवेदन भाव के द्वारा (आत्मनैव) आप ही अपने से ही (अनुभूये) अनुभव किया जाता हूं (सः) वही (अहं) मैं हूं। ऐसा मेरा स्वरूप (नतत्) न नपुन्सक है (न सा) न स्त्रीलिंग है (न असौ) न पुरुषलिंग है तथा (न एको) न एक है (न द्वौ) न दो हैं (वा) अथवा (न बहुः) न बहुत हैं।

भावार्थ—अंतरात्मा विचारता है कि मेरे आत्मा का स्वभाव अनुभवगम्य है, जो कोई आत्मा का अनुभव अपने स्वरूप के भीतर अपने ही आप अपने स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा इस तरह पर करता है, जिस तरह का इस आत्मा का सर्व पर द्रव्य, परभाव, व परके निमित्त से होनेवाले भावों से भिन्न स्वभाव है, उस समय उसके अनुभव में जो कुछ आता है वही मैं हूं।

मेरे आत्मा का स्वभाव सिद्ध समान शुद्ध है, इसीसे मेरे आत्मा के कोई शरीर निश्चय से नहीं है। जब स्त्री, पुरुष, नपुंसक भेष शरीर के हैं, तब मैं इन भेषों के विकल्पों से दूर हूं। मेरे आत्मा का स्वभाव भेद व लिंग के झगड़ों से बिलकुल भिन्न है। तथा भेददृष्टि से देखते हुए आत्मा पदार्थ को निश्चयनय से एक रूप। व्यवहारनय से दो रूप, जैसे ज्ञानदर्शनरूप। तीन रूप, जैसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्ररूप। चाररूप, जैसे दर्शन, ज्ञान सुख, वीर्यरूप इस ही तरह अनेक रूप देखा जासक्ता है। पर जब विकल्पों को छोड़कर अभेदरूप अनुभव करता हूं, तब वहां एक, दो व अनेक की कोई कल्पना नहीं रहती, उस तत्वज्ञानी को इस बात का अनुभव है तथा सच्चा ज्ञान होता है कि मैं आत्मारूप वचन अगोचर अनन्त गुणों का स्वामी हूं, वचनों से कुछ थोड़े से ही गुण उस आत्मा के पहचानने के लिये कहे गए हैं—उन गुणों से मात्र इतना ही प्रयोजन निकलता है, कि हम आत्मा को अन्य पुद्गलादि द्रव्यों से भिन्न पहचान सक्ते हैं। इसीलिये भेद नय से पूरा स्वरूप नहीं जाना जासकता। यहां पर आचार्य का लक्ष्य अभेद अखंड आत्मा के स्वरूप का है-इसीसे उन्होंने कहा है कि यथार्थ आत्मा में कोई भी कर्मों के उदय से होनेवाली अवस्था की कल्पना न करना कि यह एकेन्द्री, द्वेन्द्री, त्रेन्द्री, चौन्द्री, पंचेन्द्री आदि रूप है। यह क्रोधी, मानी, लोभी, मायावी, अथवा मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि, श्रावक, मुनि, अर्हंत, केवली तथा श्रुत केवली आदि पर्याय रूप है। न इसमें गुणों के भेदरूप व कारकों की भेदरूप कल्पनायें करना, इन सब कल्पनाओं के होते हुए एकाग्ररूप से आत्माका अनुभव नहीं होसक्ता। इसलिये जब कल्पनाओं की आग शांत होती है, तब वीतरागता और समताभाव की आभा चमकती है, उसी समय स्वानुभव होता है। अंतरात्मा कैसे स्वानुभव करता है, इसी का दिग्दर्शन आचार्य ने कराया है।

आगे की उत्थानिका—आगे अंतरात्मा फिर विचारता है, कि जिस आत्मा के स्वरूप का मैं अनुभव करता हूं वह कैसा है—

श्लोक—यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२४॥

अन्वयार्थ—(यत् अभावे) जिस स्वसंवेदन गोचर आत्मस्वरूप के न प्राप्त करते हुए अर्थात् उसका अनुभव न होते हुए (अहं) मैं (सुषुप्तः) सोया हुआ था अर्थात् यथार्थ पदार्थ के ज्ञानको न पाने रूप अज्ञानरूपी नींद से गाढ़पने बेहोश होरहा था। (पुनः) तथा (यत् भावे) जिस आत्म स्वरूप के पाने पर अर्थात् अनुभव होजाने पर मैं (व्युत्थितः) विशेषपने जाग गया अर्थात् मैंने यथार्थ स्वरूप के ज्ञान को प्राप्त कर लिया (तत्) वह आत्मस्वरूप (अतीन्द्रियम्) इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण योग्य नहीं है, स्वभावजन्य है, (अनिर्देश्यं) शब्दों के द्वारा कहने योग्य नहीं है, तथा (स्वसंवेद्यं) अपने ही द्वारा अनुभव करने योग्य है (अहम्) सोई मैं (अस्मि) हूं।

भावार्थ—यहां पर अंतरात्मा की आत्मश्रद्धा की दृढ़ता को बताया गया है। वह यह समझता है कि अपने आत्मा का स्वरूप अपने ही अनुभव में आने योग्य है। जब कि वह अखंड अनन्त गुणों का समुदायरूप वस्तु है, तब उसका शब्दों के द्वारा कहा जाना असम्भव है। शब्द उसका स्वरूप एक इशारा मात्र बताते हैं। तथा क्योंकि आत्मा और उसके गुण अमूर्तीक हैं, इसलिये मूर्तीक इन्द्रियों के द्वारा उस आत्मा के स्वरूप का ग्रहण नहीं होसकता। वह अंतरात्मा ज्ञान होजाने पर ऐसा सोचता है कि मुझको जब आत्मा के स्वरूप का ज्ञान न था, तब मैं बहुत ही अज्ञानी था। मैं मोह की नींद में सोरहा था। अपने भीतर जो सुख तथा ज्ञान का भंडार है, उसके पते से बेखबर था। और सुख की इच्छा से पर पदार्थों की तृष्णा में जल रहा था। जैसे सोता मनुष्य अपनी गफलत से चोरों के द्वारा लूटा जाता है, ऐसे मैं इन्द्रिय विषय की चाहनारूप चोरों से लूटा गया। मेरा ज्ञान भंडार नष्ट भ्रष्ट हुआ। अब मैं जागा तो अच्छी तरह पहचाना कि मैं तो पुद्गलादि परद्रव्यों से भिन्न एक आत्मपदार्थ रागद्वेषादि विकारों से रहित परमानन्दमय हूं। इन्द्रिय विषय चोर है, ऐसा मुझे निश्चय हुआ। मैं जिस आत्मस्वरूप के अनुभव बिना अज्ञानी था तथा जिसके अनुभव होने से ज्ञानी हुआ, वहां जो कोई शुद्ध चिदानन्दमयी वस्तु है, सो ही मैं हूं। इस तरह अंतरात्मा अपने यथार्थस्वरूप का गाढ़ निश्चय रखता है—उसी निश्चय का यह बाहिरी चिन्ह है, कि उसकी वस्तु सर्व परद्रव्यों से बाहर रुचि करने लगे।

आगे की उत्थानिका—अब अंतरात्मा विचारता है कि उस आत्म-स्वरूप का अनुभव होते हुए रागद्वेषादि भाव नहीं रहते, तब वहां न कोई शत्रु मालूम होता है न कोई मित्र।

श्लोक—क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः॥ २५

अन्वयार्थ—(तत्त्वतो) तत्त्वदृष्टि से अर्थात् शुद्ध निश्चयनय से (मां) अपने को (बोधात्मानं) ज्ञानस्वरूप (प्रपश्यतः) अनुभव करने से (अत्रैव) इस जन्म में ही अथवा यहां ही (रागाद्याः) रागद्वेषादि भाव (क्षीयन्ते) नष्ट होजाते हैं। (ततः) इसलिये (मे) मेरा (न) न (कश्चित्) कोई (शत्रुः) शत्रु है (च) और (न) न कोई (प्रियः) मित्र है।

भावार्थ—अंतरात्मा जब स्वानुभव की अपेक्षा से विचार करता है तो उसको प्रतीत होता है कि जब मैं निश्चयनय से अपने आत्मा के स्वरूप को देखता हूं तो उसका स्वरूप ज्ञानमय, वीतराग तथा आनन्दमय भासता है—उसके स्वरूप में रागद्वेषादि की कल्पना भी नहीं रहती, तब फिर वहा यह विचार कि कोई मेरा शत्रु है अथवा कोई मेरा मित्र है, बिलकुल नहीं रहता। दूसरा भाव यह है कि आत्मा को वीतराग विज्ञानमय अनुभव करते हुए फिर ज्ञानी सम्यग्दृष्टि को असल में कोई भी आत्मा छोटा बड़ा नहीं मालूम होता—सब ही ज्ञानानंदमय दीखते हैं—निश्चय से कोई शत्रु व मित्र नहीं रहता, व्यवहार में प्रयोजनवश किसी को शत्रु व किसी को मित्र मानता है। तथा इस स्वानुभव के अभ्यास से जितना रागद्वेष का रस सूखता जाता है, उतना उतना व्यवहार में भी शत्रु मित्रपना मानना हट जाता है। अथवा इसी स्वानुभव के अभ्यास के बल से यदि तद्भव मोक्षगामी है, तो दशवें गुणस्थान में बिलकुल रागद्वेष नहीं रहता। इसीलिये संयोग केवली के चारों तरफ संपूर्ण शान्ति विराजती है, उनके समवशरण में जातिविरोधी जीवों का बैरभाव बिलकुल नहीं रहता। वास्तव में स्वानुभव ही वह मंत्र है, जिस मंत्र के प्रभाव से रागद्वेषादि सर्पों का विष उतर जाता है। सम्यग्दर्शन के होते हुए ही चौथे गुण स्थान में स्वानुभव प्राप्त होजाता है—क्योंकि यह वह

शस्त्र है जिससे अवश्य मोह शत्रु का नाश होता है। इसीलिये सम्यक्त्वी अवश्य संसार विजयी होगा, ऐसा निश्चय होजाता है। अंतरात्मा जब स्वानुभव की निर्विकल्प दशा से सविकल्प दशा में आता है, तब फिर निर्विकल्प दशा में पहुंचने के लिये निश्चयनय की शरण लेता है। उस समय ऐसा विचारता है कि तत्त्वदृष्टि से मेरा स्वरूप वीतराग है, राग द्वेष मेरा स्वभाव नहीं है, किसी को अच्छा व किसी को बुरा मानना मेरा स्वभाव, धर्म नहीं है। तब इस जगत में न कोई शत्रु है व न कोई मित्र है। इस तरह परम समताभाव लाकर शांत होजाता है और आत्मा के गुणों की भावना करने लगता है। भावना करते करते उसको जब एकाग्रता होती है तब स्वानुभव के अमृतमयी स्वाद को भोगता है।

आगे की उत्थानिका–अंतरात्मा से कोई शंका करता है, कि जब म अन्य किसीके शत्रु वा मित्र नहीं हो, तो भी अन्य कोई तो तुम्हारा ात्रु या मित्र अवश्य होगा। क्योंकि जब दूसरा कोई शत्रु या मित्र होगा, तब भी तुम्हारे मन में यह विकल्प कदाचित् होसक्ता है कि मेरा कोई शत्रु या मित्र है। ऐसी दशा में तुम विकल्प नहीं होसकते। इसके उत्तर में अंतरात्मा विचारता है व कहता है:—

श्लोक–मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ–(मां) मेरे आत्मस्वरूप को (अपश्यन्) नहीं देखता हुआ (अयं) यह (लोकः) लौकिक मायी (न मे शत्रुः) न मेरा शत्रु है (च न प्रियः) और न प्यारा है। क्योंकि चर्म चक्षुओं से मेरा स्वरूप दीख नहीं सकता, और जब तक किसी वस्तु को जानेगा नहीं, तब तक उस में रागद्वेषभाव हो नहीं सकता। (मां) मेरे आत्मस्वरूप को (प्रपश्यन्) देखता हुआ (अयं लोकः) वह ज्ञानीजन (न मे शत्रुः) न मेरा शत्रु है (च न प्रियः) और न मित्र है। क्योंकि आत्मस्वरूप को अनुभव करेगा, उसके रागादि भाव न होने से उसके भीतर शत्र या मित्रभाव नहीं हो सकता।

भावार्थ—यहां पर भी आचार्य ने निश्चयदृष्टि को प्रधान करके कहा है कि ये जगत के लोग अपनी चर्म चक्षुओं से आत्मा को नहीं देख सकते। तथा अन्तरात्मा की अहंबुद्धि अपने आत्मा में ही होती है, शरीरादि में नहीं। इस लिये अन्तरात्मा विचारता है कि मेरे आत्मा को जब जगत के लोग देख नहीं सकते, तब ये मेरे आत्मा को न देखते हुए उस आत्मा के न वैरी हो सकते हैं और न मित्र। ये जिस शरीर को देख कर उस शरीर से हित करके, मित्र व उस से अहित करके शत्रु होते हैं, वह शरीर जड़ है उस का बिगाड़ सुधार कुछ भी हो, उससे मेरा बिगाड़ सुधार नहीं। क्योंकि न तो मैं शरीर रूप हूं और न शरीर मेरा है, शरीर मुझ से अत्यन्त भिन्न विजातीय पदार्थ है। मैं शरीर को अपना मानूं तो इस असत्य मानता से स्वयम् क्लेशित व हर्षित हूं, पर जब यह अपना है नहीं और ऐसा ही मैंने माना है, तब इस के हित व अहित से मेरा कुछ भी हित अहित नहीं हो सकता। इस लिये शरीर का शत्रु व मित्र कोई भी हो, मेरे आत्मा का कोई शत्रु व मित्र नहीं है। वह अन्तरात्मा यह भी विचारता है कि यदि कोई लौकिकजन मुझे अर्थात् मेरे आत्मा को देख लेवें, तो भी वह देखने वाला मेरे आत्मा का शत्रु व मित्र नहीं हो सकता। क्योंकि दूसरा देखनेवाला भी मेरे आत्मा को निश्चय की दृष्टि से देखेगा, तब ही मेरे आत्मा के स्वरूप को देख सकता है। अर्थात् ज्ञानी पुरुष जैसे अपनी आत्मा को निश्चय से शुद्ध वीतराग देखता है, वैसे दूसरे की आत्मा को शुद्ध वीतराग देखता है। वास्तव में आत्मा शब्द का वाच्य आत्मा है, न कि मलीन आत्मा जो कि कर्मबंध से मलीन होती है। इसलिये आत्मा के स्वरूप का परोक्ष दर्शन भी बिना निश्चयदृष्टि के नहीं हो सकता। जो कोई मेरे आत्मा को अपने असली स्वरूप में निश्चय करेगा, उस के चित्त में मेरी तरफ राग द्वेष कुछ भी नहीं हो सकता है। क्योंकि उस देखने वाले को अपनी आत्मा के समान ही गुणों में दूसरे की आत्मा दीखती है। इसलिये मुझे देखने वाला भी मेरा शत्रु या मित्र नहीं हो सकता।

इस प्रकार अन्तरात्मा ने अपने भीतर समझ कर राग द्वेष मिटाकर समताभाव का आलम्बन किया है, यही समता स्वानुभव का कारण है, इसी साम्यभाव से स्वरूप में रमण करता है।

आगे की उत्थानिका—अन्तरात्मा के लिये आचार्य उपदेश करते हैं कि बहिरात्मपने का त्याग करके परमात्मपने की प्राप्ति का उपाय इस भांति करना चाहिये:—

श्लोक—त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः ।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम् ॥२७॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस तरह जैसा ऊपर कहा गया है (अन्तरात्मा व्यवस्थितः) अन्तरात्मा की अवस्था में ठहरा हुआ (बहिरात्मानं) बहिरात्मापने को (त्यक्त्वा) छोड़कर तथा (सर्व संकल्पवर्जितम्) सर्व संकल्प विकल्पों से रहित हो कर (परमात्मानं) परमात्मा को (भावयेत्) भावै । अथवा जिस में कोई संकल्प विकल्प नहीं है, ऐसे परमात्मा के स्वरूप का अनुभव करे ।

भावार्थ-यहां पर आचार्य ने फिर शिक्षा दी है कि आत्मा का जो कुछ यथार्थ स्वरूप है, उस को ग्रहण कर तथा उस से भिन्न जो कुछ भाव कर्म, द्रव्यकर्म तथा जो कर्म है, उससे बुद्धि हटाकर तथा बाहर और अंतरंग के जो मन, वचन, कर्म सम्बन्धी विचार हैं उन को परित्याग करके अपने आत्मा का जो यथार्थ स्वरूप परमात्मा के समान है, उस को जानकर उसी का अनुभव करना चाहिये-अर्थात् पहले भावना करके फिर उस स्वरूप में लय होना चाहिये ।

आगे की उत्थानिका—परमात्मा की भावना करने से क्या फल होता है, इसी को कहते हैं:—

श्लोक—सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन्भावनया पुनः ।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम् ॥२८॥

अन्वयार्थ—(तस्मिन) उस परमात्मा के स्वरूप में (भावनया) भावना करने के प्रताप से (सोऽहम्) जो अनन्त ज्ञानस्वरूप प्रसिद्ध परमात्मा है, सो ही मैं हूं (इति) इस प्रकार के अभ्यास से (आत्त संस्कार) जिसने अपनी वासना जमाली है वह भेदाभ्यासी तत्त्वज्ञानी पुरुष (पुनः) फिर (तत्रैव) उसी ही उत्कृष्ट आत्मस्वरूप में ही (दृढसंस्कारात) निश्चल

वासना के बल से (हि) प्रगटपने (आत्मनः स्थितं) अपने आत्मस्वरूप में निश्चलपने को (लभते) प्राप्त करता है।

भावार्थ—यहां पर आचार्य बताते हैं कि अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि जीव को एक दफे आत्मा का स्वरूप अनात्मा से भिन्न समझलेने पर भी गाफिल न होना चाहिये। उस स्वरूप को बार बार विचारना चाहिये, सोऽहम् सोऽहम् की भावना करनी चाहिये। जो पवित्र आत्मा है वही मैं हूं अर्थात् मैं स्वयं परमात्मा हूं। इस तरह निश्चयनय के द्वारा भावना करते करते दृढ़ संस्कार जब जम जाता है, तब इस का श्रद्धान पक्का हो जाता है। पक्का श्रद्धान बार बार अभ्यास के बल से ही होता है। इस का क्या कारण है जो उपशम सम्यक्त अन्तर्मुहूर्त ही रहता है। इस पर जब विचार किया जाता है तो यही समझ में आता है कि सम्यक्त्व होते समय जैसा दृढ़ श्रद्धान आत्मस्वरूप का होता है वह अन्तर्मुहूर्तमात्र होता है, पीछे अवश्य वह या तो ढीला हो जाता है या छूट जाता है। यदि ढीला होता है तो क्षयोपशम सम्यक्त्व हो जाता है और यदि सम्यक्त्व छूटता है तो नीचे के किसी गुणस्थान में आ जाता है।

इसलिये फिर सम्यक्त्व पाने को अथवा उस को दृढ़ करने को ऐसा कि क्षयोपशम से क्षायिक सम्यक्त हो जावे। जो सम्यक्त के प्रतिपक्ष मिथ्यात्व आदि प्रकृतियों के बिल्कुल छूट जाने से होता है। इस मनुष्य को निरन्तर सोऽहं के भाव का अभ्यास करना चाहिये। बार बार अभ्यास के बल से सम्यक्त ऐसा मजबूत हो जाता है, कि वह फिर कभी छूटता नहीं, चाहे क्षयोपशम सम्यक्त्व रहे या क्षायिक। क्षयोपशम यदि होता है तो क्षायिक में बदल कर ही मिटता है। श्रद्धान में पकावट पालेने पर आत्मरस का अनुभव करने के लिये उसे बारबार स्वरूप की भावना करनी चाहिये। इस भावना के दृढ़ होने पर जब उस का उपयोग निज स्वरूप की तरफ जायगा, उस को आत्मानंद प्राप्त होगा—उस समय आत्मस्वरूप में निश्चल हो जायगा। इस स्वानुभव को बढ़ाने के लिये ज्यों २ वह ध्यान का अभ्यास करेगा, त्यों २ स्वरूप में निश्चल होता जायगा, इसी कारण वह कभी साधु भी हो जायगा। और ध्यान करते २ सर्व मोह कर्म व उस

के सहकारी कर्मों का नाश करके निश्चलपने आत्मा में थिर हो जायगा-ऐसा कि फिर कभी वहां से चलायमान नहीं होगा। यह दशा केवली अरहन्त की है जब कि अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य्यादि गुण प्रगट हो जाते हैं। आचार्य का प्रयोजन यह है कि जो जैसी भावना करेगा वह वैसा हो जायगा। जो निर्विकार परमात्मा के स्वरूप का ध्यान करेगा वह क्यों नहीं उस परमात्मा पद को पहुंच जावेगा, अवश्य पहुंचेगा। इसलिये आलस्य छोड़कर जिस तरह बने भेद ज्ञान का अभ्यास करना चाहिये।

आगे की उत्थानिका—यहां पर कोई शिष्य शंका करता है कि आत्मा की भावना करने के लिये तप आदि करना होगा, जिस में परम्परा से बहुत कष्ट होगा, इस से ऐसे कार्य के लिये भय होता है। तब किस तरह किस की प्रवृत्ति इस आत्मभावना के सम्बन्ध में हो सकती है, अर्थात् ऐसे कठिन कार्य के लिये कौन उद्यम करेगा, इस आशंका को दूर करने के लिये आचार्य कहते हैं-

श्लोक—मूढात्मा यत्र विश्वस्त स्ततोनान्यद्भयास्पदम् ॥
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥२६॥

अन्वयार्थ-(मूढात्मा) बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि (यत्र) जिन स्त्री, पुत्रादि, कुटुम्ब, मित्र, शरीर आदि में (विश्वस्तः) विश्वास कर लेता है कि ये मेरे हैं, मैं इन का हूं। (ततः) उन स्त्री, पुत्रादि शरीर में मोह करने के (अन्यत्) सिवाय दूसरा कोई (भयास्पदम्) इस आत्मा के लिये भय का स्थान नहीं है। क्योंकि इसी मोह से संसार में दुःख उठाता है (यतः) जिससे अर्थात् जिस परमात्मस्वरूप के अनुभव से (भीतः) डरता है (ततः अन्यत्) उसके सिवाय दूसरा कोई (आत्मनः) आत्मा के लिये (अभयस्थानम्) संसार के दुःखों से बचने का निर्भय उपाय (न) नहीं है।

भावार्थ-यहां पर आचार्य ने अज्ञानी भयभीत शिष्य की शंका का समाधान किया है कि आत्मानुभव के लिये उद्यम करने में उसी को भय मालूम होता है जो आत्मा व उस के सच्चे स्वरूप को नहीं जानता है। जो

तत्त्वज्ञानी होते हैं उन की बुद्धि अज्ञानियों से विलक्षण होती है। अज्ञानी जीव जिस को अपना भला जानता है जिस २ में अपना विश्वास कर लेता है उसी से ही उस को महान् कष्ट भोगना पड़ता है। जिस शरीर को अपना मानके विश्वास् करता है उसी के लिये न्याय अन्याय न विचार कर वर्तन करता है, जिससे घोर पाप बांध लेता है। उस पाप का फल आगे भोगना पड़ेगा, तथा जब वह शरीर कुछ रोगी होता व बिगड़ता है तो महान् क्लेश में पड़जाता है और जब मरने लग जाता है, तब उसके चित्त की आकुलता को वही जान सकता है। आर्त्तध्यान से मरकर खोटी गति में चला जाता है। इस तरह जो शरीर उसका विश्वासपात्र था उसी से ही यह अज्ञानी प्राणी विपत्ति के स्थान में चला गया। इसी तरह स्त्री, पुत्र, धन आदि में जो अपनायत का मोह करता है उन के निमित्त से उनके रोगी होने व वियोग होने पर महान क्लेशित होता है तथा उनके निमित्त घोर पाप बांध महा विपत्ति के स्थान में पहुंच जाता है। मिथ्यात्वी जीव की यह दशा बड़ी शोचनीय है। तत्त्वज्ञानी इसी से इन शरीर, स्त्री, मित्र, पुत्र आदि से व्यवहार में काम तो लेता है परन्तु उनका अंतरंग से न मोह करता, न उन पर विश्वास रखता है।

इससे यदि वे छूट जाते तो भी कुछ क्लेश नहीं उठाता तथा उन के निमित्त पाप नहीं करता। न्यायपूर्वक व्यवहार से उन की रक्षा करता है। आत्मा का परमहित शुद्धस्वरूप का लाभ है, जहां यह बिल्कुल निर्भय हो जाता है, इसी को मोक्ष अवस्था कहते हैं। इस का उपाय भी जो निश्चय रत्नत्रयमयी आत्मानुभव है वह भी भय व दुःख से रहित है। क्योंकि आत्मानुभव में तिष्ठा जीव परम शांति, निराकुलता तथा आनंद भोगता है, सर्व जगत् के दुःखस्वरूप के ध्यान से भाग जाते हैं। इस आत्मानंद के लिये तप करने, व्रत धारने, शास्त्र मनन करने आदि कार्यों में प्रवृत्त होते हुए तत्त्वज्ञानी को कोई प्रकार का कष्ट न होकर महान् आनन्द प्राप्त होता है। उसी तरह जैसे किसी मित्र से मिलने को जाते हुए मार्ग के कष्ट सुख भासते तथा धन के लिये परिश्रम करना सुख की आशा में सुखदाई होता है। आत्मा का परम शरण आत्मानुभव है, यही निर्भय स्थान है। खेद है। अज्ञानी इसी से डरता

है। वास्तव में यह महामोह की महिमा है, जिससे अज्ञानी सुखदाई को दुःखदाई तथा दुःखदाई को सुखदाई समझता है। आचार्य कहते हैं कि अज्ञानी को स्वरूप प्राप्ति के उद्योग में कष्ट पाने का भय होता है, ज्ञानी को नहीं। ज्ञानी बड़े उत्साह से श्रावक व साधु के व्रतपाल, अपना धर्म व मोक्ष पुरुषार्थ साधन करता है।

आगे की उत्थानिका—आत्मा की प्राप्ति किस तरह होती है, इसीका उपाय कहते हैं :—

श्लोक—सर्वेन्द्रियाणि संयम्यस्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः॥ ३०

अन्वयार्थ—(सर्वेन्द्रियाणि) सर्व इन्द्रियों को अपने २ विषयों में जाते हुए (संयम्य) रोककर (स्तिमितेन) स्थिरी भूत (अन्तरात्मना:) मन से अर्थात् अपने भीतर जो कोई आत्मा है उस तरफ अपने को सन्मुख रखते हुए (क्षणं पश्यतः) क्षण मात्र भी अनुभव करनेवाले के (यत्) जो स्वरूप (भाति) झलकता है (तत्) सो ही (परमात्मन तत्वम्) परमात्मा का स्वरूप है।

भावार्थ—आत्मा ज्ञान स्वभाव है—इसका ज्ञानोपयोग ज्ञेय पदार्थों के निमित्त से कभी कहीं व कभी कहीं भ्रमण किया करता है—हम लोग मन सहित पंचेन्द्रिय जीव हैं, इससे हमारा उपयोग कभी किसी इन्द्रिय कभी किसी इन्द्रियस्व, कभी मन के द्वारा काम किया करता है। इन्द्रिय के द्वारा विषयको ग्रहण करता तथा मन के द्वारा उसका विशेष स्वरूप कारण, कार्य आदि का विचार करता है, परन्तु काम एक समय एक ही इन्द्रिय के द्वारा यह उपयोग करता है। इन्द्रिय के द्वारा उपयोग किसी विशेष को जानता है तथा मन के द्वारा भी किसी विशेष का चिन्तवन करता है। अब जब उपयोग को अपने ही आत्मा की तरफ जाना हो, जिसका ही एक परिणाम उपयोग है, तब उसको विशेषों को छोड़ कर सामान्य पर आना पड़ेगा। इसलिये सर्व इन्द्रियों व मन से उपयोग को हटाना पड़ेगा और अपने स्वामी अथवा अपने

आपकी तरफ उस उपयोग को रखना पड़ेगा—सो ही यहां कहते हैं कि इन्द्रियों से व मन के विकल्पों से रहते हुए जिस समय आपके सन्मुख उपयोग करके अनुभव किया जाता है उस समय जो कुछ भीतर प्रकाशित होता है, वही परमात्मा का स्वरूप है। परमात्मा की प्राप्ति का यही उपाय है कि इन्द्रियों को रोको, मन को स्थिर करो और आपको देखो-जो कुछ दिखता है वही परमात्मा है। स्वानुभव व स्वसंवेदन उसी समय होता है, उसी समय परमानंद की प्राप्ति होती है। कहने का प्रयोजन यही है कि निश्चय से तू स्वयं परमात्मा है। जब तू पर से हटकर आप में आवेगा, तू स्वयं परमात्मस्वरूप है। अपने आत्मा का अनुभव कुछ भी कठिन नहीं है, अपनी ही वस्तु है। अनादि से हमने इन्द्रिय और मनरूपी छः झरोखों से बाहर देखने का अभ्यास कर रक्खा है, कभी भी उनसे देखना छोड़ते नहीं। जब कभी इन झरोखों में न झांक कर हम अपने घर की तरफ देखेंगे, हमें स्वयं अपना स्वरूप दिखलाई पड़ेगा।

आगे की उत्थानिका—शिष्य ने फिर प्रश्न किया कि किसकी आराधना करने से आत्मस्वरूप की प्राप्ति होगी। इस शंका का उत्तर कहते हैं:—

श्लोक—यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥ ३१

अन्वयार्थ--(यः) जो कोई प्रसिद्ध (परात्मा) उत्कृष्ट आत्मा या परमात्मा है (स एव) वह ही (अहं) मैं हूं, तथा (यः) जो कोई स्वसंवेदन गोचर (अहं) मैं आत्मा हूं (सः) सो ही (परमः) परमात्मा है। (ततः) इसलिये जब कि परमात्मा और मैं एक ही हूं तब (मया) मेरे द्वारा (अहम् एव) मैं ही (उपास्यः) आराधने योग्य हूं (कश्चित् अन्य)-कोई दूसरा (न) नहीं। (इति) इस प्रकार अपने स्वरूप में ही आराध्य आराधक भाव की (स्थितिः) व्यवस्था है।

भावार्थ—यहां आचार्य ने शिष्य के प्रश्न का यही उत्तर दिया है कि अपने स्वस्वरूप की ही आराधना करनी चाहिये—अपने आत्मास्वरूप के ही

अनुभव से स्वरूप की प्राप्ति होगी। परमात्मपदशक्ति व स्वभाव की अपने आपमें ही है। निश्चयनय से गुणों व स्वभावों की अपेक्षा परमात्मा और संसारी आत्मा में कोई प्रकार भेद नहीं है। सत्ता की अपेक्षा तो भेद है परन्तु स्वभाव की अपेक्षा नहीं। अपनी ही मिश्र अवस्था में से जब औदारिक शरीर, तैजस शरीर और कार्माण शरीर को अलग कर दिया जाय तथा औपाधिक रागद्वेषादि भावों को हटा दिया जाय, तो आप स्वयं परमात्मा ही हैं। शुद्ध निश्चयनय से आपको ही परमात्मस्वरूप ध्यान में लेकर अपने स्वरूप का ही अनुभव करना चाहिये, अन्य किसी का नहीं। अन्य की आराधना विकल्परूप व सराग है, तब आपकी उपासना विकल्प रहित तथा वीतराग है। वीतराग दशा होने को यही भावना कार्यकारी है।

आचार्य का यह भी एक आशय है कि पर की भक्ति कठिन होती व परस्वरूप होना व परकी वस्तु पानी कठिन होती है, पर अपनी ही वस्तु को आप ही अपने में पाना कोई कठिन नहीं है। इसलिये निश्चिन्त होकर परकी चिन्ता छोड़ स्वरूप की आराधना करनी चाहिये। समाधि भाव पाने का मात्र एक यही उपाय है।

आगे की उत्थानिका-इसी स्वस्वरूप की उपासना का विशेष उपाय दिखलाते हैं:-

श्लोक—प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितिम्।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्द निर्वृतम्॥ ३२

अन्वयार्थ-(अहं) मैं (विषयेभ्यः) पंचेन्द्रियों के विषयों से (मां) अपने को हटा करके (मयाएव) मेरे ही द्वारा अर्थात् अपने आत्मस्वरूप के ही द्वारा (मयि) मेरे ही स्वरूप में (स्थितं) ठहरे हुए (बोधात्मानं) ज्ञान स्वरूप, (परमानन्द निर्वृतम्) तथा उत्कृष्ट आनन्द से पूर्ण (मां) अपने स्वरूप की अवस्था को (प्रपन्नोऽस्मि) प्राप्त होता हूं।

भावार्थ-यहां पर आचार्य अंतरात्मा की भावना की रीति को बतला देते हैं कि यह अंतरात्मा सम्यग्दृष्टी जीव अपने आप को

अर्थात् अपने उपयोग को पांचों इंद्रियों के विषयों से अर्थात् भोग्य पदार्थों से हटाता है। उन पदार्थों में इष्ट अनिष्टपने की बुद्धि को छोड़ देता है। बाहरी पदार्थों की पर्यायों को पुद्गल या चेतन की पर्यायें समझ कर मूल द्रव्य को ध्यान में लेकर जिसकी वे पर्यायें हैं, उदासीन हो जाता है। उन पर्यायों से बेफ्रिक्र होजाता है। जैसे कोई अपने भोजन में जब लग जाता है तब अपने दिल को और कामों से हटा लेता है। अथवा अपनी प्रियतमा स्त्री से लाड़ प्यार करते हुए और बातों से रुख अर्थात् उपयोग फेर लेता है और अपनी स्त्री के ही भोग में लग जाता है। उसी तरह तत्त्वज्ञानी जीव विचारता है कि मैं अपने को विषयों से हटा कर अपने आपको अपने ही स्वसंवेदन के द्वारा अपने ही आत्मा में विराजमान करता हूं, जिससे मैं ऐसी ज्ञानस्वरूप तथा परमानंद-मयी अवस्था को प्राप्त होता हूँ, जो मेरा ही खास स्वरूप है। क्योंकि आत्मरस विषयरस से विलक्षण है, इससे जब विषय रस का स्वाद जाता है तब आत्मरस का वेदन पैदा होता है। जिस अनादि से लेने वाले स्वाद से सुखशांति नहीं हुई, उस स्वाद से मुख मोड़ने पर और स्वस्वरूप के सन्मुख होने ही से निजानन्द का अनुभव होता है, यही अनुभव परमात्मस्वरूप विकाश का बीज है।

आगे की उत्थानिका–ऊपर कहे प्रमाण आत्मा के स्वरूप को जो शरीर तथा पुद्गल के समस्त विकारों से भिन्न नहीं अनुभव करता है, उसके सम्बन्ध में कहते हैं:–

श्लोक—यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम्।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वाऽपि परमं तपः॥ ३३॥

अन्वयार्थ–(यो) जो कोई विद्वान् (देहात् परं) शरीरादि पर पदार्थ तथा परभावों से भिन्न (एवम्) ऊपर कहे प्रमाण (अव्ययं) अविनाशी अपने ज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण (आत्मानम्) आत्माको (न वेत्ति) नहीं जानता है, अनुभव करता है (सः) सो पुरुष (परमं)

बहुत तीव्र (तपः) तपस्या को, महान् उपवासादि कायक्लेश को (तप्ता अपि) तप करके भी (निर्वाणं) सर्व संसार के दुःखों से मुक्तरूप और निज स्वरूपानंदमयी निर्वाण को (न लभते) नहीं प्राप्त करता है।

भावार्थ-निर्वाण आत्मा की शुद्ध अवस्था को कहते हैं जहां सांसारिक अवस्था तो मिट जाती है और स्वाभाविक अवस्था प्रगट होजाती है। इस कार्य का कारण भी वैसा चाहिये क्योंकि जैसा साध्य हो वैसा ही साधन चाहिये। जब आत्मा का पूर्णरूप साध्य है तब आत्मा के स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान व उसमें चर्या ऐसा जो रत्नत्रय है, वही उसका साधन हो सकता है, अन्य नहीं। जैसा कि स्वामी अमृतचंद्रजी ने समयसार कलशे में कहा है:—

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्म्मभिः।
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपो भारेण भग्नाश्चिरं॥
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयम्।
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि॥१०

भावार्थ-कोई महा कठिन व्यवहार मोक्षमार्ग से प्रतिकूल कायक्लेश आदि क्रिया कांडों से स्वयं कष्ट उठावें, तो उठाओ। अथवा कोई व्यवहार मोक्षमार्गरूप महाव्रत व तप के भार से दीर्घ काल तक पीड़ित हुए कष्ट उठावें, तो उठाओ। साक्षात् मोक्ष तो एक क्लेशरहित पद है, ज्ञानस्वरूप है तथा स्वयं अनुभव में आने योग्य है। इसलिये उसकी प्राप्ति विना आत्मज्ञानरूपी गुण के कोई भी किसी भी तरह से करने को समर्थ नहीं होसकते। जो सम्यक्त रहित हैं अर्थात् आत्मानुभव को न पाते हुए उसके सच्चे श्रद्धान से बाहिर हैं—जिनको आत्मसुख का मजा नहीं आया है, वे पुरुष चाहें जैनधर्म से विरुद्ध कायक्लेश का कष्ट उठाओ, चाहें जैनधर्म के अनुकूल २८ मूलगुण व बारह प्रकार तप का साधन करो; कभी भी आत्मा की शुद्धि को नहीं पासकते। जैसे कोई बाहरी सामग्री ईंधन, धोंकनी, चिमटा आदि को तो इकट्ठा कर ले परन्तु अशुद्ध सुवर्ण के

मैल काटने को जिस अग्नि के ताप देने की जरूरत होती है उस ताव को न देवे, तो अनेक कष्ट सहने पर भी उस सोने का एक अंश भी शुद्ध नहीं हो सकता। आत्मानुभव ही वह ध्यान की अग्नि है जो कर्म मैल को हटाती है। इसी से इसी की खास ज़रूरत है, वाहरी श्रावक व मुनि का जो चारित्र पालना है, वह केवल मन को वाहरी आकुलताओं से हटाने के वास्ते है। क्योंकि जितना अधिक आरंभ परिग्रह से मन छुट्टी पाएगा, उतना अधिक वह मन आत्मा के मनन में लग सकता है। इसी लिये कहा है कि सम्यक्त्व के विना व्रत, तप आदि केवल अज्ञान व्रत व अज्ञान तप है। श्री कुंदकुंदाचार्य भगवान ने समयसार जी में इस भांति कहा है:—

गाथा—परमट्ठम्हि दुअठिदो। जो कुणइ तवं वयं च धारेई।
तं सव्वं वालतवं। वालवदं विंति सव्वराहू ॥८३

भावार्थ—जो परमार्थ में नहीं ठहरा हुआ है और व्रत करता तथा तप धारता है वह सब वालतप व वालव्रत है, ऐसा सर्वज्ञ भगवान् कहते हैं। मन को वाहरी प्रपंच जाल से वचाने के लिये व्यवहार चारित्र है, सो भी इसीलिये कि उस मन से स्वरूप का मनन किया जाय। यदि स्वरूप का मनन न हो तो सर्व ही व्यवहारचारित्र मोक्ष का साधक नहीं है, केवल मंद कषाय से पुण्य वंध करता है, जिस का फल नौ ग्रैवेयिक तक गमन फिर संसार में ही भ्रमण है। इसीलिये यहां आचार्य ने कहा है कि जो आत्मज्ञान शून्य हैं, वे निर्वाण नहीं पा सकते।

आगे की उत्थानिका—यहां शिष्य शंका करता है कि महा कठिन तप को जो करते हैं उसको महा दुःख होता है, उससे उनके मन में खेद व आकुलता होती है। ऐसी दशा में तपस्वियों को निर्वाण की प्राप्ति कैसे हो सकती है। उसका समाधान आचार्य करते हैं:—

श्लोक—आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते ॥३४॥

अन्वयार्थ—(आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः) आत्मा और शरीर के भेद ज्ञान से पैदा होने वाले आनन्द से भरा हुआ योगी (तपसा) बारह प्रकार तपस्या करके (घोरं दुष्कृतं) भयानक पूर्व कर्म का फलरूप महा दुःख को (भुंजानोऽपि) भोगते हुए भी (न खिद्यते) नहीं खेद मालूम करता है।

भावार्थ—आचार्य उस शिष्य को समाधान करते हुए कहते हैं कि तप को करते हुए खेद उसी को होता है जिसको आत्मज्ञान नहीं होता तथा जो उस आत्मज्ञान से उत्पन्न परमानन्द का स्वाद नहीं पाता। आत्मानुभव से जो परम तृप्तिकारी सुख होता है, उस सुख की प्राप्ति की गरज़ से यदि किसी तपस्वी ने घोर तपस्या भी शुरू की हो, तो भी उस को उस तपके तपने में कोई कष्ट नहीं होता। जैसे द्रव्य का लोभी धूप में नंगे पैर १०-५ कोस चलता हुआ भी उस बाधा की कुछ परवाह नहीं करता, क्योंकि उसका उपयोग उस धन के सम्बन्ध में लालायित होरहा है। एक तो ध्यान का अभ्यासी ध्यान के समय यथासम्भव निराकुल स्थान में बैठ कर ध्यान करता है, इससे कोई बाहरी कष्ट नहीं भोगता—तो भी यदि निराकुल स्थान में बैठे हुए कोई पूर्वपाप के उदय से संकट आजावे तो भी वह उस संकट में चित्त को खेदित या मैला नहीं करता है। क्योंकि एक तो उसे जो आत्मा के अनुभव का रस आरहा है, उसके सामने वह विपत्ति कोई वस्तु नहीं झलकती। दूसरे वह ज्ञानी उस संकट को अपने ही किये हुए कर्मों का फल समझ कर मेरा कर्ज़ा चुक रहा है, ऐसा समझ लेता है तब कोई प्रकार भी खेद भाव मन में नहीं लाता है। जितने भी दुःख हैं उनका असर शरीर पर पड़ता है, ज्ञानी ने भेदज्ञान के बल से अपने शरीर को अपने आत्मा से भिन्न जान लिया है इतना ही नहीं, उस आत्मा के स्वाद को भी अनुभव कर लिया है। इसलिये आत्मा के स्वरूप का परम प्रेमी तथा शरीर से अत्यन्त उदास हो गया है। जो जिससे उदास हो जाता है उस पर जो कोई बिगाड़ या सुधार का मामला होता है, उससे भी वह उदास रहता है, यह नियम है। इसलिये शरीर पर कर्मोदय से आने वाली तकलीफों की ज्ञानी कुछ परवाह नहीं करता है। वह अपने स्वरूप के आनन्द में मस्त हुआ

परम संतोषी रहता है। इसलिये घोर तप करते हुए भी न उसे दुःख होता है, न मन में खेद लाता है। अतः शांत वैराग्य आत्मानुभव के प्रताप से कर्मों की निर्जरा करता हुआ निर्वाण का पात्र हो जाता है।

आगे की उत्थानिका—आचार्य कहते हैं कि यदि तपस्वी के तप की क्रिया में खेद हो जावे तो उसको आत्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उस का मन धर्मध्यान से छूटकर आर्त्तध्यान में आ जावेगा।

श्लोक—रागद्वेषादि कल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत्त्वं नेतरो जनः॥ ३५

अन्वयार्थ—(यन्मनोजलम्) जिस का मनरूपी जल (रागद्वेषादि कल्लोलैः) राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभादि तरंगों से (अलोलं) चंचल नहीं है, मलीन नहीं है अर्थात् वीतरागता में स्थिर है (सः) वही आत्मा (आत्मनः तत्त्वं) आत्मा के यथार्थस्वरूप को (पश्यति) देखता है, अनुभव करता है। (सः) वही आत्मदर्शी (तत्त्वं) स्वयं तत्त्वस्वरूप है अर्थात् परमात्मा के स्वभावरूप है (इतरः जनः न) दूसरा जो मनुष्य आत्मा की तरफ सन्मुख नहीं है, वह उस समय तत्त्वरूप वर्त्तमान पर्याय अपेक्षा नहीं है।

भावार्थ—जैसे समुद्र का जल जब पवन के द्वारा उठने वाली तरंगों से चंचल होता है, तब उस में निर्मलता के साथ पदार्थ नहीं दिखता है। परन्तु जब वह जल स्थिर होता है तब उस निर्मल जल में अपना मुंह या कोई भी पदार्थ साफ साफ दिख जाता है। तैसे ही जब मन राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभादि विकारी भावों से चंचल होता है, तब उस में आत्मा का स्वभाव नहीं झलकता। परन्तु जब मन में राग द्वेषादि विकार नहीं होते तब वह मन निर्मल होता है। और निर्मल मन में आत्मा का जो स्वरूप है, सो बराबर दिखता है। जिस के मन में राग, द्वेष, मोह है, वह आत्मा के स्वरूप को नहीं पासकता है। इसी से जो सम्यग्दृष्टि योगी हैं वे अपने स्वरूप के अनुभव में ऐसे दत्तचित्त होते हैं कि बाहिरी शरीर के रोगों में रागद्वेष

नहीं करते हैं, इसी से उन को किसी तरह का कष्ट नहीं होता है। वे आर्त्त-ध्यान नहीं करते, वे सदा धर्मध्यान में लीन रहते हुए, आनन्द का उपयोग करते हैं।

आगे की उत्थानिका—जिस आत्मा के तत्त्व को राग द्वेष रहित जीव देखता है वह तत्त्व कैसा है ? उस का क्या स्वरूप है ? सो कहते हैं:-

श्लोक—अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थ—(अविक्षिप्तं) विक्षेप रहित अर्थात् रागादि में नहीं परिणमन करता हुआ; देहादि और आत्मा को एक मानने के अभिप्राय को त्याग करने से अपने स्वरूप में ही निश्चलता को प्राप्त करता हुआ (मनः) मन (आत्मनः तत्वं) वास्तविक आत्मा का स्वरूप है। (विक्षिप्तं) तथा जो ऊपर से विपरीत विक्षेपरूप, रागादि में परिणत हुआ, शरीरादि और आत्मा को भेद ज्ञान न करता हुआ मन है, सो (भ्रान्तिः) भ्रम है, मिथ्यात्व है, आत्मा का स्वभाव नहीं है। (ततः) इसलिये (तत्) उस मन को (अविक्षिप्तं) अविक्षिप्त अर्थात् राग द्वेषादि रहित (धारयेत्) धारण करना चाहिये, (विक्षिप्तं) राग द्वेष से क्षोभित मन की अवस्था को (न आश्रयेत्) नहीं आश्रय करना चाहिये।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि यह आत्मा का स्वरूप अपने ही पास है, जो भाव मन काम विचार का कर रहा है, उस को मिथ्या बुद्धि से व रागद्वेष से जब हटा दिया जाता है तब जो स्वयं ही विचार या चिंता की निश्चलता हो जाती है, और वहां भीतर जो कुछ झलकता है वही आत्माका सच्चा स्वरूप है। और जहां मन मिथ्यात्वभाव व रागद्वेष के फन्दों में उलझा होता है वहां आत्मा का स्वरूप नहीं झलकता, क्योंकि वहां भ्रम है। इसी लिये जो तत्वज्ञानी अपने स्वरूप को प्राप्त करना चाहता है उसको अपने आत्मा के सच्चे स्वरूप का श्रद्धान करना चाहिये, ऐसा कि अपना आत्मा सर्वभाव कर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म से भिन्न प्रतीति में आवे। फिर पर पदार्थों से रागद्वेष छोड़कर

अपने उपयोग को आत्माके स्वरूप में जमाना चाहिए, बस उसी समय आत्मा के स्वरूप का अनुभव हो जायगा, मन के उपयोग का आत्मा में तन्मय होना ही आत्मा के सच्चे स्वरूप का लाभ है। जहां सचा श्रद्धान न होगा वहा मन कभी भी रागद्वेष रहित निश्चल नहीं हो सकता, इसी से वहां आत्मस्वरूप नहीं मिल सकता। यदि आत्मा के आनंद की भावना है तो शिष्य को राग द्वेष रहित मन को करना चाहिये तथा रागादि भावों में मन को उलझाए नहीं रखना चाहिए।

आगे की उत्थानिका—शिष्य प्रश्न करता है कि किस तरह मन को विक्षेप तथा किस तरह आक्षेप होता है, इसी का उत्तर आचार्य देते हैं:—

श्लोक–अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते॥३७॥

अन्वयार्थ—(अविद्याभ्याससंस्कारैः) शरीर आदि को शुचि स्थिर तथा आत्मारूप मान लेना ऐसी जो अविद्या अर्थात् अज्ञान, इस अज्ञानके वार २ होने से जो पैदा हुई वासनाएं उनके कारण (मनः) यह मन (अवशं) अपने वश को छोड़ कर अर्थात् इन्द्रियों के आधीन होकर (क्षिप्यते) विक्षिप्त अर्थात् रागीद्वेषी होजाता है। (तदेव) वही मन (ज्ञान संस्कारैः) आत्मा शरीरादि से भिन्न है, इस प्रकार ज्ञान के बार बार अभ्यास से प्राप्त हुए संस्कारो के द्वारा अर्थात् भेद ज्ञान के अभ्यास से (स्वतः) अपने आप ही (तत्त्वे) आत्मस्वरूप में (अवतिष्ठते) ठहर जाता है।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि अभ्यास एक ऐसी चीज है कि जिस के कारण मन की वृत्ति नाना प्रकार की हो जाती है। अज्ञानी मिथ्याती जीव को आत्मा के स्वरूप का पता नहीं होता। वह जो अनात्मा है उसे ही आत्मा समझ लेता है। रागद्वेषरूप व शरीररूप ही आत्मा है, इस अज्ञान के अनादि काल से होने वाले अभ्यास से इस अज्ञानी का मन शांति को नहीं भोगता। निरंतर इन्द्रिय विषयों और कषायोंके आधीन पड़ा रहता है–इष्ट पदार्थों में राग तथा अनिष्ट में द्वेष निरंतर किया करता है। मनके विक्षिप्त

होने का कारण वास्तव में अज्ञान है। इसी तरह जब भेदविज्ञान का बार बार अभ्यास किया जाता है अर्थात् ऐसा मनन किया जाता है कि शुद्ध चैतन्यमात्र परमपदार्थ सिद्ध भगवान के समान जो कोई है, वह मैं हूं, तथा कर्मों के उदय से होने वाले अनेक नैमित्तिक भाव ये सब मेरे स्वभाव से भिन्न हैं तथा अन्य द्रव्य जिनकी सत्ता हर तरह मुझ से निराली है, वे तो भिन्न हैं ही। इस पुनः पुनः अभ्यास के बल से वह मन ज्ञानी हो जाता है और स्वयं ही आनंददायी शांत आत्मस्वरूप में पूर्ण विश्वास रखता है और अवसर पाकर अपने आत्मानुभव में लय हो जाता है। इस लिये सम्यग्ज्ञान के बल से ही मन रागद्वेष रहित हो आत्मा का विलास करता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी को इस भेद विज्ञान का बार बार अभ्यास करना चाहिए।

आगे की उत्थानिका—चित्त के विक्षेप होने से क्या फल होता है तथा अविक्षिप्त रहने से क्या फल होता है, इसी बात को दर्शाते हैं:—

श्लोक-अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः।
नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतसः॥३८॥

अन्वयार्थ—(यस्य चेतसः) जिस के चित्त में (विक्षेपः) रागद्वेष मोह का क्षोभ रहता है (तस्य) उसी के (अपमानादयः) अपमान आदि भाव हुआ करते हैं अर्थात् मेरा मान खंडन होगया, मेरी अवज्ञा हुई, मैं बड़ा हूं ऐसा मान, दूसरे को देख कर ईर्षा करना आदि खोटे भाव हुआ करते हैं। (यस्य चेतसः) जिस के चित्त में (न क्षेपः) रागद्वेषादि का क्षोभ नहीं होता है (तस्य) उस के (अपमानादयः) ये अपमानादि अशुभ भाव (न) नहीं होते हैं।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने यह दिखलाया है कि मन के भीतर होने वाले कुत्सित विकारों का मूलकारण अज्ञानरूप मन की प्रवृत्ति है। जो मनुष्य इस शरीर में आत्मबुद्धि रखता है तथा इन्द्रियविषय भोग को ही अपना सर्वस्व समझता है और संसार के प्रपंच जालों में ही जिस

के मनको विश्राम मिलता है, वह रात्रि दिन अपने अहंकार में फंसा रहता है। अपनी जरासी भी अवज्ञा को सह नहीं सकता, तथा अपने सामने किसी की बढ़ती को पसन्द नहीं करता, ईर्षाभाव में व अन्य भोगादि की चिन्ताओं में तथा वैरभाव में उलझकर रात दिन दुःखी तथा आकुलित रहता है। यह अवस्था उस प्राणी के मन की नहीं होती, जिस के मन में यह रागद्वेषादि की विडम्बना अज्ञानरूप नहीं होती। जो पुरुष ज्ञानी होता है, वह अपने मन में कषाय की तीव्रता को नहीं होने देता तथा ज्ञान के बल से यथार्थ विचार करता है, और सुखी रहता है। तात्पर्य यह है कि सर्व आकुलताओं का मूल कारण अज्ञान है। इस अज्ञान के मिटते ही परिणामों में आत्मा की तरफ सन्मुखता होती है और रागद्वेषादि क्षोभ घटता जाता है।

आगे की उत्थानिका—अपमान आदि रागद्वेषादि के भाव जब आवें तब उन को दूर करने का क्या उपाय है, इसी को समझाते हैं:—

श्लोक—यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः ॥
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात् ॥३६॥

अन्वयार्थ—(यदा) जब (तपस्विनः) किसी तपस्वी के (मोहात्) मोहनीय कर्म के उदय से (रागद्वेषौ) राग व द्वेष (प्रजायेते) उत्पन्न होवें (तदैव) उसी समय में ही वह तपस्वी (स्वस्थ) बाहरी विषयों से हटकर के अपने स्वरूप में स्थित (आत्मानं) आत्मा को (भावयेत्) वारवार विचार करे। ऐसा करने ही से वे रागद्वेष (क्षणात्) क्षणमात्र में ही (शाम्यतः) शांत हो जावेंगे।

भावार्थ—जब कोई निमित्त ऐसा मिले कि जिसके कारण किसी भी तरह का कषायभाव जग उठे और रागद्वेषरूप परिणति होने लगे, तो उसी समय तत्त्वज्ञानी को चाहिये कि वह निश्चयनय की शरण ग्रहण करके निश्चयनय के आश्रय से आत्मा के स्वरूप को वारवार विचार करे, कि यह आत्मा रागद्वेष रहित वीतराग ज्ञानानंदमयी है। जब मैं ऐसा हूं, तब मेरे में ये अपमानादि के भाव क्यों होते हैं, नहीं होने चाहिये। ऐसा स्वरूप चिन्तवन

होते ही अपनी कषाय जाती रहेगी, रागद्वेष न रहेंगे। जैसे जिस समय अपना शरीर उष्णता का तीव्रता से अनुभव करता है, उसी समय यदि शांत जल के भरे तालाब में हम स्नान करें तो डुबकी लगाते ही सब गर्मी निकल जायगी और ठंडक हो जायगी। इसी तरह रागद्वेष से जब उपयोग आतापित हो तब ही शुद्ध आत्मस्वरूप मैं हूं, शांत समुद्र मैं हूं, परमसुखी मैं हूं, ऐसा विचार करते ही रागद्वेष की गर्मी शांत हो जायगी और यह निराकुल हो जावेगा।

आगे की उत्थानिका—आगे कहते हैं कि रागद्वेष करने का विषय कौन है? और यदि इन्हें छोड़ना हो तो रागद्वेष के विषय से विपक्ष विषय कौन है?

श्लोक—यत्र काये मुनेः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम्।
बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति ॥४०॥

अन्वयार्थ--(यत्र काये) जिस अपने या पर के शरीर में अथवा इन्द्रियादि पदार्थों में (मुनेः) मुनि का (प्रेम) प्रेम हो (ततः) उस शरीर से या इन्द्रियादि पदार्थों से (देहिनम्) अपने आत्मा को (बुद्ध्या) भेद ज्ञान के बल से (प्रच्याव्य) हटा करके पीछे (तत्) उस आत्मा को (उत्तमे काये) उत्तम चिदानन्दमयी शरीरवाले आत्मा के स्वरूप में (योजयेत्) लगावे, तब यह फल होगा कि (प्रेम) शरीरादि सम्बन्धी स्नेह (नश्यति) नष्ट हो जायगा।

भावार्थ—यहां पर भी आचार्य ने राग द्वेषादि हटाने का उपाय बताया है कि राग द्वेष यों तो होता नहीं—उनके होने के लिये विषय होते हैं अर्थात् किसी शरीर व इन्द्रिय के विषयों को यह इष्ट समझ कर उन पर राग करता है तथा किसी शरीर व इन्द्रिय के विषयों को अनिष्ट समझता है तो उन पर द्वेष करता है। इस तरह पर पदार्थों में ही इष्ट अनिष्ट की बुद्धि से राग द्वेष होते हैं। इनके दूर करने का उपाय यह है कि तत्वज्ञानी को चाहिये कि भेदज्ञान के बल से अपने आत्मा का स्वरूप और शरीरादि का स्वरूप विचार करे, जिससे उसके मन में आत्मा व उसके अनुभव में

उपादेय बुद्धि तथा शरीरादि पदार्थों में हेय बुद्धि होजावे, इस बुद्धि को सामने रखके ज्योंही वह आत्मा के सच्चे स्वरूप पर दृष्टि डालेगा और उसका अनुभव करने लगेगा, त्योंही उसका शरीरादि सम्बन्धी स्नेह नष्ट हो जायगा। राग द्वेषादि विकारों के हटाने का यही उपाय है। आत्मदर्शन व आत्मा के अनुभव से ही जीव का परम हित होता है, सब आकुलता मिट जाती है।

आगे की उत्थानिका-राग द्वेषादि के नष्ट होजाने पर क्या अवस्था होती है, सो कहते हैं--

श्लोक--आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति।
नायतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वाऽपि परमं तपः॥४१

अन्वयार्थ-(आत्मविभ्रमजं) आत्मा के मिथ्या श्रद्धान से उत्पन्न हुआ अर्थात् अनात्मा जो शरीरादि सो ही आत्मा है, इस तरह के मिथ्या ज्ञान से पैदा हुआ जो (दुःखम्) नाना प्रकार इस लोक व परलोक सम्बन्धी क्लेश है सो (आत्मज्ञानात्) आत्मज्ञान से अर्थात् शरीरादि से आत्मस्वरूप का भेद ज्ञान होजाने से और आत्मस्वरूप के अनुभव करने से (प्रशाम्यति) शांत होजाता है। परन्तु जो (तत्र) उस आत्मस्वरूप में (अयताः) उद्योगी नहीं है, वे (परमं) उत्कृष्ट (तपः) तप अर्थात् महा कठिन २ तपस्या को (कृत्वाऽपि) करके भी (न निर्वान्ति) नहीं निर्वाण की प्राप्ति करते हैं, न सुखी होते हैं।

भावार्थ-यहां पर आचार्य कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा को आत्मा के सच्चे स्वरूप का ज्ञान न होने पर जैसी विषयकषाय सम्बन्धी आकुलताएं होती हैं व जैसे जैसे २ क्लेश विषयों की प्राप्ति के लिये उठता है तथा इस मिथ्याबुद्धि से दुर्गति में जाकर जो जो महान् कष्ट उठाता है, ये सर्व दुःख आत्मा का सच्चा स्वरूप जानने से व अनुभव करने से दूर होजाते हैं। संसार में रहते हुए इस जन्म में भी वह बहुत दुःखी नहीं होता है। पदार्थों की अनिष्ट प्राप्ति में हर्ष नहीं व अप्राप्ति में शोक नहीं करता है।

समताभाव से जो उपलब्ध होता है, उनको भोग लेता है--तथा तत्वज्ञानी परलोक में भी अपने शुभ भावों के प्रताप से साताकारी सम्बन्धों में प्राप्त होजाता है। आत्मज्ञानी को उसी मार्ग पर चलना होता है, जो साक्षात् मोक्ष द्वीप में ले जानेवाला है। ऐसे मार्ग में जाते हुए विकट असाताकारी सम्बन्ध बहुत तुच्छ आते हैं।

जो ऐसा कहते हैं कि दुर्धर तप के अनुष्ठान से मुक्ति की सिद्धि होती है, इसलिये आत्मज्ञान से दुःखों का नाश नहीं हो सकता है। उनके लिये आचार्य कहते हैं कि सुख की प्राप्ति व दुःखों से निवृत्ति का हेतु काय-क्लेशादि दुर्धर तप नहीं, किन्तु आत्मज्ञान है। क्योंकि आत्मज्ञान तथा आत्मानुभव न हो तो महा घोरानुघोर तपस्या करने पर भी उसकी शुद्धि नहीं हो सकती। आत्मानुभव शून्य तपमात्र कुछ पुण्यबंध का कारण है। बंध का छेदक, संसार निवारक तथा मुक्तिसाधक नहीं है, इसलिये तात्पर्य यही है कि जिस तरह बने भेद ज्ञान के बल से आत्मानुभव करना चाहिये, इसी से ही इस लोक व परलोक के सब दुःख छूट जावेंगे।

आगे की उत्थानिका--तप का साधन करते हुए वहिरात्मा मिथ्या दृष्टि क्या चाहता है तथा अंतरात्मा किस लिये तप करता है, इसी बात को बताते हैं:-

श्लोक--शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ॥४२

अन्वयार्थ--(देह) शरीर में तत्सम्बन्धी अनेक पदार्थों में (उत्पन्नात्ममतिः) पैदा हुई है आत्मापने की बुद्धि जिसको, वहिरात्मा जीव (शुभं शरीरं) सुन्दर शरीर (च) और (दिव्यान् विषयान्) उत्तम स्वर्ग सम्बन्धी विषय भोगों को (अभिवाञ्छति) चाहता है। किन्तु (तत्वज्ञानी) जिसने आत्म स्वरूप को भले प्रकार जान लिया है, ऐसा ज्ञानी (ततः) इस शरीर व उसके सम्बन्धी विषय भोगों से, (च्युतिम्) छुट्टी अर्थात् मुक्ति चाहता है।

भावार्थ—यहां आचार्य ने बहिरात्मा तथा अंतरात्मा की भावना का खुलासा किया है कि अज्ञानी मिथ्या-दृष्टि जीव तपादि क्रिया करता हुआ भीतर में विषय भोग की अभिलाषा को नहीं मिटा पाता है। क्योंकि उस का श्रद्धान आत्मसुख में नहीं होता, किन्तु इन्द्रियों के विषय सुख में ही होता है। इसलिये धर्म साधन करते हुए भी व घोर तपस्या करते हुए भी इसी भावना को भीतर जगाता रहता है, जिस से कभी भी सच्चे सुख को नहीं पाता। किन्तु जो अंतरात्मा सम्यग्दृष्टि जीव है वह आत्मानंद की चाह व परम्परा मुक्ति की भावना से तप आदि धर्म का अनुष्ठान करता है। जिस तप से निराकुलता होकर परिणाम आत्मा के विचार में तथा अनुभव में जुड़ सकें व परिणाम शुद्ध होते चले जावें, उस तपादि के अनुष्ठान को बड़े प्रेम से संसार विषय भोगों से विरक्तभाव रखता हुआ करता है। मिथ्याज्ञानी और सम्यग्ज्ञानी की भावना में बड़ा ही फेर है। तात्पर्य यह है कि स्वस्वरूप के अनुभव की भावना ही परम कार्यकारी है।

आगे की उत्थानिका—(मिथ्याज्ञानी) अपनी परिणति के कारण अवश्य बंध को प्राप्त करता है, जब कि सम्यग्ज्ञानी अपनी सम्यक् परिणति के प्रताप से बंध को न करता हुआ उल्टा कर्मों की निर्जरा करता है।

श्लोक–परत्राहम्मतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम्।
स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः ॥ ४३

अन्वयार्थ—(परत्र) पर जो शरीरादि हैं उन में (अहम्मतिः) आत्मा की बुद्धि करने वाला बहिरात्मा (स्वस्मात्) अपने आत्मस्वरूप से (च्युतः) भ्रष्ट हुआ (असंशयम्) बिना किसी संशय के अवश्य (बध्नाति) बंधन को प्राप्त करलेता है अर्थात् कर्मों को बांधता है। जब कि (स्वस्मिन्) अपने आत्मा के स्वरूप में (अहम्मतिः) अपने आत्मपने की बुद्धि रखने वाला (बुधः) अन्तरात्मा ज्ञानी-(परस्मात्) पर जो शरीरादि व कर्म बंध आदि उन से (च्युत्वा) अलग होकर (मुच्यते) मुक्त हो जाता है।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने बंध और मोक्ष के कारण से स्पष्ट रूप से बताया है। संसार का कारण मिथ्यात्व है। पर को अपना मानना मिथ्यात्व है। जो अपने स्वरूप के श्रद्धान से रहित है, और पुद्गलकृत अवस्था में अपनायत की बुद्धि रखता है, वह अज्ञान से पर में इष्ट व अनिष्ट बुद्धि रखता हुआ व संसार में मोह करता हुआ, पाप पुण्य अनिष्ट कर्मों से बंधता है। इसमें किसी प्रकार का भी संशय नहीं है—तथा जो अपने आत्मद्रव्य की पहिचान रखता है और अपने आत्मा में ही आत्मबुद्धि रखता है, वह मोक्षमार्ग में चलने वाला है। उस की अन्तःकरण की वृत्ति अपने स्वरूप के सन्मुख होती है। वह निरंतर वैराग्यवान रहता है। उदय में आए हुए कर्मों को समताभाव से भोगलेता है। इस से पूर्वबद्ध कर्मों की तो निर्जरा होजाती है—तथा नवीन बंधन बहुत हलका होताहै, जो नहीं के बराबर है। इससे अंत में यह फल होता है, कि वह एक दिन सब कर्मों से छूट कर मुक्त होजाता है।

आगे की उत्थानिका—बहिरात्मा जिन पदार्थों में अपनेपने की बुद्धि करता है, उन पदार्थों के सम्बन्ध में इस बुद्धि के द्वारा वह क्या माना करता है—तथा अंतरात्मा जिस में अपनेपने की बुद्धि करताहै, वह इस बुद्धि से उस पदार्थ को क्या समझता है, इस बात को दिखलाते हैं:—

श्लोक—दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम्॥४४॥

अन्वयार्थ—(मूढ) मूर्ख अज्ञानी माणी (इदं) इस (दृश्यमानं) दिखलाई देने वाले मनुष्यों के शरीरादि को (त्रिलिंगम्) तीन लिंगरूप अर्थात् स्त्री, पुरुष, नपुंसकरूप (अवबुध्यते) मानता है। अज्ञानी जीव को भिन्न आत्मा की प्रतीत नहीं है, इससे शरीर को आत्मा मानने से उस आत्मा को ही स्त्री, पुरुष, नपुंसक देखता हुआ वैसाही व्यवहार करता है। (तु) किन्तु (अवबुद्धः) ज्ञानी अंतरात्मा (इदं) इस आत्मतत्त्व को (निष्पन्नम्) परिपूर्ण अपने गुणों से पूर्ण तथा अनादि से सिद्धस्वरूप तथा (शब्दवर्जितम्) शब्द की कल्पना से रहित (इति) ऐसा मानता है।

भावार्थ—अज्ञानी की दृष्टि बिलकुल पर की तरफ झुकी हुई है, इस को आत्मस्वरूप का बिलकुल भी श्रद्धान नहीं है। वह बाहरी जगत को सब कुछ समझता है। इससे जो पुरुष दीखता है उसे पुरुष, जो स्त्री दीखती है उसे स्त्री व जो नपुंसक है उसे नपुंसक देखता है। अर्थात् जो कुछ बाहरी अशुद्ध अवस्था पदार्थों की है, उनहीं को असली वस्तु मानता है, उसे शुद्ध आत्मस्वरूप का पता नहीं है। उस की दृष्टि मूढ़ है अथवा सर्वथा अशुद्ध व्यवहार की ओर झुकी हुई है, इसीसे उस को इष्ट वियोग व अनिष्ट संयोग का महान् कष्ट होता है। उस कारण भी दुःखदाई होता है और उसका परलोक भी अशुभ होता है, परन्तु जिसने अंतरात्मबुद्धि पाली है, वह पदार्थों को निश्चय द्रव्यदृष्टि से देखता है। इसे दृष्टि में उसे अपना आत्मा त्रिकाल अबाधित, अनंतगुण, पर्यायमय, एकरूप, सर्व औपाधिक भावों से शून्य, अनादि, अनंत, परम प्रतापी, सर्व विकल्पों से रहित, परम शुद्ध, परम ज्ञानी, परम वीतरागी, सिद्ध सम दीखता है। इसीतरह वह पुद्गलद्रव्य को भी अपने स्वरूप में देखता है। उसकी अनेक घट पट आदि अवस्थाएं उसकी बुद्धि से निकल जाती हैं। जैसा आत्मा निरापन्न और विकल्प रहित दीखता है, वैसा पुद्गल भी तथा ऐसेही सर्व ही द्रव्य दीखते हैं। इस तरह शुद्ध निर्मल दृष्टि के प्रताप से यथार्थ आत्मा को देखता हुआ मैं स्वयं परमात्मा स्वरूप हूं, इस भाव में लीन होता हुआ स्वयं परमात्मा हो जाता है। क्योंकि जो जैसा भावे, वह वैसा हो जावे। जैसा श्री नागसेन मुनि ने श्री तत्वानुशासन में कहा है:—

श्लोक--परिणमते येनात्मा भावेन सतेन तन्मयोभवति।
अर्हन्ध्यानाविष्टोभावार्हः स्यात्स्वयं तस्मात्॥१९०॥

येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित्।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥१९१

भावार्थ—जिस भाव से आत्मा परिणमन करता है, उस भाव से वह तन्मयी हो जाता है, इसीलिये अर्हंत के ध्यान में लगा हुआ स्वयं भाव अर्हन् हो जाता है। आत्मज्ञानी जिस भाव से जिस रूप आत्मा को ध्याता है उसीसे

ही तन्मय होजाता है। जैसे स्फटिकमणि में जैसी उपाधि लगती है, वैसी लाल या हरी आदि रूप परिणमन कर जाती है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानी द्रव्यदृष्टि से पदार्थ का अनुभव करे तो उसे सब ही पदार्थ अपने तन्मय हैं। वह निज आत्मा को ग्रहण कर स्वस्थ होजाता है और मोक्षद्वीप के मार्ग में चलने लगता है।

आगे की उत्थानिका—यहां शिष्य शंका करता है कि यदि अन्तरात्मा ही आत्मा को भले प्रकार जानता है, तब उसके कभी भी इस प्रकार एकत्वपने का भ्रम क्यों होता है, जिससे वह अपने को ऐसा मानने लगता है, कि मैं पुरुष हूं, मैं गोरा हूं, इत्यादि इस शंका का समाधान आचार्य्य करते हैं:—

श्लोक—जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि।
पूर्वं विभ्रमसंस्काराद्भ्रांतिं भूयोऽपि गच्छति ॥४५

अन्वयार्थ—(आत्मनः) आत्मा का (तत्त्वं) यथार्थस्वरूप (जानन् अपि) जानते हुए भी तथा उसे (विविक्तं) सर्व शरीरादि पुद्गल द्रव्य और उसकी अनेक अवस्थाओं से भिन्न (भावयन् अपि) भावते हुए भी (भूयोऽपि) फिर भी (पूर्व विभ्रम संस्कारात्) पूर्व में अर्थात् मिथ्यात्त्व अवस्था में अनुभव किये हुए मिथ्या श्रद्धान की वासना के प्रभाव से (भ्रान्तिं गच्छति) भ्रांति में पड़ जाता है।

अनादि काल का जो मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव है उसको सबसे पहले उपशम सम्यक्त्व होता है, जिसकी स्थिति अंतमुहूर्त्त की है। उसके पीछे यदि मिथ्यात्त्व का उदय आजावे, तो वह अंतरात्मा फिर वहिरात्मा होजाता है। उसका श्रद्धान गिरजाता है। इसका कारण यही है कि उसका पूर्व का अभ्यास मिटा नहीं है। कुछ काल के लिये दब गया था सो फिर प्रगट होगया है। इस बात के कहने का अभिप्राय यह है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति जिन बाहरी कारणों से होती है, उनका साधन कभी छोड़ना न चाहिये। जब तक सम्यक्त्व दृढ़ न होजावे, तब तक उसके साधनों का अवलम्बन

रखना चाहिये। सम्यक्त्व की प्राप्ति का कारण शास्त्र व उपदेश द्वारा तत्त्व विचार करना है। ध्यानाकार मूर्त्ति के द्वारा शुद्ध भाव की भक्ति करके कषाय मंद करना तथा विचार में आत्मोनुभव की दशा को जताना है—तथा एकांत में बैठ कर स्व पर के स्वरूप का मनन करना है। एक दफे श्रद्धान होजाने पर भी इन बाहरी कारणों को यदि न छोड़ा जायगा, तो एक दफे सम्यक्त्व छूटने पर फिर सम्यक्त्व का लाभ हो जावेगा। इस तरह दृढ़ श्रद्धान होने तक सतत उसके कारणों का सेवन करना चाहिये, प्रमाद न होना चाहिये.।

आगे की उत्थानिका—उस तरह फिर जो भ्रांति होजावे, उस को किस तरह छोड़े, इसका उपाय बताते हैं:—

श्लोक—अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क रुष्यामि क तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः ॥४६

अन्वयार्थ—(इदं दृश्यं) यह जो वस्तुएं देखने में आरही हैं अर्थात जो इंद्रियों से ग्रहण में आरही हैं, शरीर आदि पदार्थ सो सब (अचेतनं) जड़ हैं। इनके ऊपर यदि क्रोध किया जाय व इन पर संतोष बताया जाय, तो ये कुछ नहीं समझ सकती हैं। क्योंकि इनमें चेतनपना नहीं है, और जो (चेतनं) चेतन स्वरूप आत्मा का स्वभाव है सो (अदृश्यं) इंद्रियों के द्वारा देखने व ग्रहण में नहीं आता (ततः) क्योंकि जैसे शरीरादि जड़ होने से क्रोध व हर्ष के पात्र नहीं हैं, उसी तरह यह आत्मा का स्वरूप जो चेतन है, वह भी हमारे क्रोध व हर्ष का स्थान नहीं होसकता। क्योंकि वह दिखलाई ही नहीं पड़ता—बिना 'देखे पर क्रोधादि कैसे किया जाय'। इसी कारण से (क) कहां पर व किस पर (रुष्यामि) मैं क्रोध करूं व (क) कहां पर व किस पर (तुष्यामि) मैं संतोष करूं (अतः) इसलिये जब क्रोध व संतोष का कोई विषय नहीं होता, तब (अहं) मैं (मध्यस्थः) मध्यस्थ अर्थात् उदासीन, वीतरागी (भवामि) रहता हूं।

भावार्थ—यहां पर आचार्य भ्रांति में आये हुए अंतरात्मा को समझाते हैं, जब तेरे दिल में पर वस्तु में आशक्ति होकर किसी पर क्रोध

होजाय व मोह पैदा होजाय, तब तू इस तरह भावना कर कि द्रव्य दृष्टि से जो २ जड़ मूर्त्तीक है, वही इंद्रियों का विषय हो सकता है। उन पर कोई तरह की क्रिया करनी उनके भीतर विकार नहीं कर सकती। क्योंकि जड़ कुछ समझता ही नहीं, और जो २ चेतन द्रव्यदृष्टि से दिखता है, वह इंद्रियों का विषय नहीं है, उन पर क्रोध व संतोष हो ही नहीं सकता-तथा यदि मैं करूं भी, तब भी चेतन में जो द्रव्यदृष्टि से अखंड शुद्धस्वभावमय है, विकार नहीं हो सकता। द्रव्यार्थिकनय से देखते हुए चेतन अपने स्वभाव में और जड़ अपने स्वभाव में दीखते हैं-तथा मैं भी अपने को अपने स्वभाव में देखता हूं, तब मैं और पर सर्व ही आत्माएं शुद्ध बराबर एक सी दीख रही हैं-न कोई शत्रु है, न मित्र है, सर्वही भ्राता सम हैं। फिर वहां क्रोध व हर्ष का काम ही नहीं रहता, इसीलिये मैं सर्व से मोह छोड़कर परम उदासीन तथा वीतरागी रहता हूं। मैं अपने स्वभाव में जमे रह कर परम सुख शांति विलास करता हूं। जैसे परमात्मा समदर्शी, वीतरागी तथा ज्ञानमय है, जानता देखता हुआ भी किसी पर राग द्वेष नहीं करता, इसी तरह मैं भी रहता हूं। इसी मेरी चेष्टा से जैसे परमात्मा को परमानंद का अनुभव होता है, वैसा मुझे अनुभव होता है।

आगे की उत्थानिका—आगे कहते है कि मिथ्यादृष्टि किस वस्तु को त्यागता तथा ग्रहण करता है, और अंतरात्मा सम्यग्दृष्टि किस वस्तु को त्यागता या ग्रहण करता है:-

श्लोक-त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित्।
नान्तर्बहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः ॥४७॥

अन्वयार्थ--(मूढः) मूर्ख मिथ्यादृष्टि (बहिः) बाहरी पदार्थों में (त्यागादाने) त्याग और ग्रहण करता है, अर्थात् जिन पदार्थों को अनिष्ट समझ कर बुरा जानता है, उन्हीं पर द्वेष करके उनको छोड़ता है, और जिन पर इच्छा करता है, उन पर राग करता है। इससे उनको ग्रहण कर लेता है, किन्तु (आत्मवित्) आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टि (अध्यात्म) ...

(त्यागादाने) त्याग और ग्रहण (करोति) करता है, अर्थात् रागद्वेषादि विभावों को व अंतरंग, वहिरंग विकल्पों को त्यागता है, और अपने चिदानन्दमयी स्वभाव को ग्रहण करता है। परंतु (निष्ठितात्मनः) कृतकृत्य आत्मा के (अन्तर्बहिः) अन्तरंग या बाहर (न उपादान) न कुछ ग्रहण होता है (न त्यागः) न कुछ त्याग होता है।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने वहिरात्मा सविकल्प अंतरात्मा और निर्विकल्प अंतरात्मा की अवस्थाएं बताई हैं। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि वहिरात्मा के अंतरंग में विषय भोग करने की वासना होती है। इससे जिन २ पदार्थों के संयोग से उसके इस प्रयोजन के सिद्ध होने में मदद मिलती है, उनको तो ग्रहण करता है, और जिन २ पदार्थों से उसके इष्ट प्रयोजन में बाधा पड़ती है उन्हीं को त्याग देता है। कभी कभी अज्ञानी जीव मोक्ष अवस्था में नहीं खंड होनेवाले अनंत सुख की वांछा करलेता है, जिस में उसका यह भीतर का भाव होता है कि इन्द्रिय सुख की जाति का ही यह सुख है–संसार में यह बहुत थोड़ा प्राप्त होता है, किन्तु मोक्ष में पूर्ण मिलसक्ता है। इसी लोभ से वह घर बार परिग्रह को छोड़ देता है और महा कठिन मुनिव्रत का संयम पालने लग जाता है। उस का वह त्याग ग्रहण केवल अज्ञान रूप है। विकल्प अंतरात्मा अपने भीतर होने वाले रागद्वेषादि विकारी भावों को आत्मानुभव में बाधक जान त्यागता है व अन्य संकल्प स्रोत विकल्पों को मेंट देता है, और चिदानंदमयी एक निज आत्मा के स्वभाव को ग्रहण करता है। यह त्याग ग्रहण ज्ञानरूप है। तीसरा जो स्वानुभव में लवलीन है वह ऐसा स्वरूप में तन्मय है कि उसे यह विकल्प ही न उठता, कि मैं कुछ ग्रहण करूं या त्यागूं। वह स्वरूपासक्त हो रहा है, स्वस्वाद को भोग रहा है अथवा इस दशा में हम परमात्मा को भी ले सक्ते हैं। परमात्मा ग्रहण त्याग के झगड़े से बाहर है, क्योंकि वह कृतकृत्य हो गया है।

आगे की उत्थानिका—आगे कहते हैं कि सविकल्पमयी अंतरात्मा अंतरंग में त्याग या ग्रहण किस तरह करे।

श्लोक—युंजीत मनसाऽऽत्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्।
मनसा व्यवहारं तु त्यजेद्वाक्काययोजितम्॥ ॥४८॥

अन्वयार्थ—(मनसा) मन से (आत्मानं) आत्मा को (युंजीत) सम्बन्धित करें अर्थात् चित्त को एकाग्र आत्मा के स्वरूप में करे तथा अपने आत्मा को (वाक्कायाभ्यां) वचन और कायसे (वियोजयेत्) अलग करे अर्थात् जो मानस उपयोग है वह वास्तव में आत्मा का ज्ञानोपयोग है। उसके साथ आत्मा का अभेद समझे और शरीर व वचन से बिलकुल भेद है। इससे उनसे आत्मा का अभेद न समझे। (तु) और (वाक्काय योजितम्) वचन तथा काय से किये हुए (व्यवहारं) व्यवहार को (मनसा) मन से त्यजेत्) छोड़ देवे। अर्थात् जो कुछ प्रवृत्ति व निवृत्तिरूप क्रिया - वचन व काय से बिना आशक्त बुद्धि के करनी पड़े उन में मन से उदास रहे तथा उन की चिंता मन से न करे।

भावार्थ—अंतरात्मा मन से आत्मा के गुणों को विचार कर फिर मन के उपयोग को आत्मा के स्वरूप में जोड़ देता है अर्थात् मन के उपयोग द्वारा चिदानंदमयी शुद्धस्वरूप को ग्रहण कर लेता है और उस उपयोग को सम्पूर्ण वचन बोलने की व काय से करने की प्रवृत्ति से हटा लेता है, यही उस का त्याग और ग्रहण है। तथा जो कुछ काम करना भी पड़े, तो उस में मन को अशक्त नहीं करता। यहां सम्यग्दृष्टी की दो दशाओं का वर्णन किया है। एक तो वह दशा जिस में वह स्वानुभव में तल्लीन होता है। उस समय मन को तो स्वरूप में जोड़ देता है और वचन व काय की प्रवृत्ति को रोक देता है, यह बिलकुल ध्यान की दशा है। और जब ध्यान की दशा नहीं होती है, तब भी अंतरात्मा की आशक्त बुद्धि अपने स्वरूप ही की तरफ रहती है। वह प्रयोजन-वश वचन और काय से सब क्रियाएं करता है, पर रुचि अपने स्वरूप ही की

श्लोक—ब्रुवन्नापि हि नब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति ।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति ॥४१ ॥

भावार्थ—जिस महात्मा ने अपने में आत्मतत्त्व की दृढ़ प्रतीति प्राप्त करली है, वह संस्कारवश से व कर्म के उदय से व परके निमित्त से बोलता हुआ भी नहीं बोलता है, चलता हुआ भी नहीं चलता है तथा देखता हुआ भी नहीं देखता है, क्योंकि इन बाहरी कार्य्यों में उसकी हार्दिक रुचि नहीं है । रोगी कड़वी दवा विना रुचि के भी रोग शांति के लिये पीता है। इसी तरह तत्त्वज्ञानी विना रुचि के भी वचन व काय से व्यवहार करता है पर तन्मय नहीं होता । यही कारण है जिससे वचन काय की क्रिया दुःखरूप होने पर भी उन को पर जान ज्ञानी क्लेशित नहीं होता। सम्यग्दृष्टी स्त्री, पुत्रादि से वचन काय का व्यवहार करते हुए भी उन को अपना नहीं जानता ।

आगे की उत्थानिका—शिष्य प्रश्न करता है कि पुत्र व स्त्री आदि के साथ वचन व काय से व्यवहार करते हुए तो सुख की प्राप्ति होती है, तब किस तरह इस व्यवहार का त्याग करना ठीक है । इस का समाधान आचार्य करते हैं:—

श्लोक—जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च ।
स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क विश्वासः क वा रतिः ॥४६॥

अन्वयार्थ—(जगत्) अर्थात् जगत के प्राणी पुत्र, स्त्री, मित्र, महल, धन, वस्त्र, आभूषण, बाग, तालाब, समुद्र, आदि पदार्थ (देहात्मदृष्टीनां) देह को आत्मा मानने वाले बहिरात्माओं को (विश्वास्यं) विश्वास के योग्य अर्थात् ये हमारे, मैं इनका, ऐसे तथा (रम्यम्) रमणीक-परमइष्ट तथा मनोरंजक (एव) ही मालूम होते हैं, (च) परन्तु (स्वात्मनि एव) अपने आत्मा के स्वरूप में ही (आत्मदृष्टीनां) आत्मा को देखने वाले अन्तरात्माओं को (क विश्वासः) कहां विश्वास (वा) अथवा (क रतिः) कहां प्रीति, इन पदार्थों पर हो सकती है ।

भावार्थ—आचार्य शिष्य की शंका को मेटते हुए ऐसा कहते हैं, कि जो प्राणी मिथ्यादृष्टी बहिरात्मा हैं जिन को आत्मा के सच्चे स्वरूप का ज्ञान नहीं है, तथा जो इस जन्म को ही सब कुछ मान रहे हैं और जो इन्द्रियों के विषय भोगों में आसक्त हैं, उन को स्त्री पुत्रादि व धनादि के संयोग से सुख भासता है और उन्हीं का इन पर पदार्थों पर विश्वास होता है कि ये मेरे उपकारी हैं, मैं इन का उपकारी हूं। इनके रहने से ही मेरे जीवन का आनन्द है। इनके बिना मेरा जीवन शून्य है। तथा उन्हीं को ही ये पर चेतन अचेतन पदार्थ बहुत ही रमणीक, प्यारे और दिल लुभाने वाले मालूम होते हैं। वे अज्ञानी इन पदार्थों के मोह में बिलकुल गाफिल हो जाते हैं, इसी लिये इन पदार्थों के लिये न्याय, अन्याय, हिंसा, दया, असत्य, सत्य, शील, कुशील आदि का कुछ भी विवेक न करके जिस तरह विषय वासना सधे, उसी तरह वर्तन करते हैं, और जब इस उद्देश्य की सफलता के कारण मिलाने में विघ्न बाधाएं होती हैं व ये पदार्थ बिगड़ जाते तथा नष्ट हो जाते हैं, तब वे अज्ञानी बड़ा भारी दुःख व शोक करते हैं। परन्तु जो परमार्थ की दृष्टि से अपने आत्मा को सिद्धसम शुद्ध ज्ञानानन्दमय देखनेवाले हैं और जिन्होंने स्वाधीन अतीन्द्रिय सुख का विश्वास अपने आप में कर लिया है, उन को जगत में सिवाय अपने आत्मा के सच्चे स्वरूप के कोई अपना विश्वासपात्र नहीं दीखता। उनको यह झलकता है कि मेरा आत्मा ही मेरा है क्योंकि इसका वियोग मेरे से कभी हो नहीं सकता। और सब पदार्थ जो मेरे सिवाय हैं वे पर हैं, उन का परिणमन भिन्न है, मेरा परिणमन भिन्न है। मैं कितना भी चाहूं कि स्त्री, पुत्र, मित्र, धन आदि मेरी इच्छानुसार परिणमन करें, इन का कभी वियोग न हो, सो मेरी शक्ति से बाहर है। इसलिये विश्वास के योग्य सिवाय आप के और कोई नहीं है। इसी तरह वह ज्ञानी विचारता है कि यदि सुन्दरता है, तो इस आत्मा में है। जगत के सर्व पदार्थ अपनी अपनी पर्यायों को लिये हुए हैं। जितने पुद्गल हैं उन में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण हैं, उन्हीं की हानि वृद्धि से नाना प्रकार की अवस्थाएं होती हैं। रागी जीव अपने ही कल्पनारूप विचार से किसी को इष्ट तथा किसी को अनिष्ट मान लेता है। जगत के पदार्थ न तो इष्ट हैं न अनिष्ट। फिर जड़ अचेतन में क्या सुन्दरता, सुन्दरता तो मेरे निज

स्वभाव में है, जो सदा शुद्ध, आनन्दरूप, निर्विकार और सर्व से श्रेष्ठ है। इसी कारण से तत्त्वज्ञानी आप अपने आत्मा के सिवाय अन्य किसी को श्रेय नहीं समझता है-न किसी को विश्वास योग्य न रमणीक जानता है। अज्ञानी मिथ्यात्वी विषय वासना का प्रेरा हुआ अपने विषयों में सहकारी पदार्थों को रमणीक व असहकारी पदार्थों को अरम्य देखता है।

आगे की उत्थानिका—आगे शिष्य शंका करता है कि जब आत्मज्ञानी जीव का विश्वास व प्रेम देहादि बाहरी पदार्थों पर नहीं होता है, तब भोजन करने व आजीविका साधन का आरम्भ करने व उद्देश करने व विहार निहार आदि कर्म करने व शिष्यों को सुमार्ग पर चलने की प्रेरणा करने आदि कार्यों में उस तत्त्वज्ञानी की कैसे प्रवृत्ति होगी, इसी का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं:—

श्लोक-आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।

कुर्यादर्थवशात्किञ्चिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ-तत्त्वज्ञानी (आत्मज्ञानात्) आत्मज्ञान व आत्मानुभव के सिवाय (परं कार्यं) दूसरे कार्य को (बुद्धौ) अपनी बुद्धि में (चिरम्) बहुत काल तक (न धारयेत्) नहीं रक्खे। आत्मज्ञान के कार्य पर तो बराबर लक्ष्य रक्खे, पर अन्य कार्यों को करके भूल जावे। (अर्थवशात्) अपने या दूसरे के उपकाररूप प्रयोजन के होने पर (अतत्परः) उन कार्यों में लीन व आशक्त न होता हुआ (वाक्कायाभ्याम्) वचन और काय से (किंचित्) कुछ (कुर्यात्) करे, तो करे।

भावार्थ—शिष्य की शंका को दूर करते हुए आचार्य कहते हैं कि तत्त्वज्ञानी सम्यग्दृष्टी जीव चाहे मुनिपद में हो या गृहस्थ पद में हो, अपनी आत्मस्वरूप व उस में विद्यमान निराकुल सुख और शांति में अटल विश्वास रखता हुआ, निरन्तर आत्मानुभव की ही रुचि व उसी की भावना रखता है, अन्य कार्यों में आशक्त बुद्धि नहीं करता। मन में प्रेम स्वस्वरूप का ही रखता है। आत्मकार्य के सिवाय अन्य जो शरीरादि की रक्षा व पर के कार्य को बुद्धि में जमाता नहीं। प्रयोजनवश अपनी २ पदवी

के अनुकूल जो कुछ आरंभ गृह का व बाहर का करता है उनमें वचन और काय को तो लगाता है, परन्तु मन को उन में तत्पर अर्थात् लवलीन नहीं करता। इसी से आत्मकार्य के सिवाय अन्य कामों को करके तुरंत भुला देता है। अपने आत्मकल्याण की स्मृति अपने अन्तःकरण में सदा जागृत रखता है। श्री पूज्यपाद स्वामी ने अपने इष्टोपदेश में ऐसा ही कहा है:—

निशामयति निःशेषमिंद्रजालोपमं जगत्।
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते॥ ३६॥

भावार्थ—तत्त्वज्ञानी इस सर्व जगत् को इन्द्र जाल के समान देखता है और आत्म लाभ की चाहना रखता है। यदि आत्मकार्य के सिवाय अन्य कार्य में वचन व कार्य को लेजाता है तो वहां से हटाकर फिर मन में पश्चाताप करता है, कि मैं क्यों अनात्मा में चला गया। तत्त्वज्ञानी की दशा उस बालक के समान है, जिस का मन खेल में रमा हुआ है। वह माता पिता की प्रेरणा से विद्या पढ़ने को जाता है, पाठ भी पढ़ता है, यांद भी करता है, पर उसका चित्त खेल में ही रहता है। जब ही पढ़ने से छुट्टी पाता है खेल की तरफ दौड़ जाता है। इसी तरह सम्यग्दृष्टि का चित्त आत्मानुभव में रमा करता है। अपने पद के अनुसार आवश्यकता से प्रेरित होकर वचन और काय को और कामों में ले जाता है, परन्तु भावना स्वरूप के अनुभव की ही रहती है। जब अन्य कार्यों से छुट्टी पाता है, स्वरूप के अनुभव में ही व विचार में ही लय हो जाता है।

आगे की उत्थानिका—आचार्य कहते हैं कि अंतरात्मा को अपनी बुद्धि में आत्मज्ञान को ही रखना चाहिये। शरीरादि के विचार को नहीं। अंतरात्मा शरीरादि का काम करते हुए भी बुद्धि में आत्मज्ञान को जागृत रखता है। और जब शरीरादि के कामों से निवृत्त होता है, तब आत्मज्ञान में विशेष उद्यमशील होता है, और अपने अंतरंग में अंतरात्मा इस भांति विचार करता है:—

श्लोक—यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः।
अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ॥५१

अन्वयार्थ—(यत्) जिन शरीरादि बाहिरी वस्तुओं को (इंद्रियैः) इंद्रियों के द्वारा (पश्यामि) देखता हूं, (तत्) सो (मे) मेरा स्वरूप (नास्ति) नहीं है। तथा (नियतेन्द्रियः) इंद्रियो को विजय कर, जितेन्द्री होकर (यत्) जिस (सानन्दं) अतीन्द्रिय आनन्दरूप (उत्तमम्) उत्तम उत्कृष्ट (ज्योतिः) आत्मज्योति को (अन्तः) अपने भीतर (पश्यामि) देखता हूं, अनुभव करता हूं, (तत्) सो (अस्तु) मेरा स्वरूप है।

भावार्थ—अंतरात्मा फिर विचार करता है कि मेरा स्वरूप तो ज्ञान दर्शनमयी, परम वीतराग, आनन्दमयी, अमूर्तीक है, उसी स्वरूप में अनुभव करने से परम शांति प्राप्त होती है। मेरे स्वरूप के कार्य्य से विरुद्ध जो शरीरादि व कुटुम्बादि के लिये जो कुछ कार्य किया जाता है, सो मेरे स्वरूप आचरण से विपरीत कार्य्य है। जिन २ पदार्थों में मुझे संसार में राग द्वेष होता है, वे सब इंद्रियो के द्वारा दिखलाने वाली हैं। क्योंकि पांचो इंद्रिया स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दमात्र को ग्रहण करने वाली हैं, जो कि पुद्गल अचेतन द्रव्य के गुण और पर्याय हैं, और मेरे अमूर्तीक स्वभाव से अत्यन्त भिन्न है, इसीलिये उनके कार्य से मेरा कार्य नहीं है। मेरा स्वरूप तो जड़ अजीव पदार्थ और उन के गुण और पर्यायो से बिलकुल भिन्न है। जब मैं इन्द्रियो से उपयोग को संकोच कर भीतर देखता हूं, तो वहीं एक परम ज्योति का दर्शन पाता हूं, जो परमानन्द से पूर्ण है। इस दर्शन में जो कुछ अनुभव में आता है, वही मेरा निज स्वरूप है। उसी अपने स्वरूप में ही बुद्धि रखना परम उपादेय है।

आगे की उत्थानिका—यदि आत्मा की परम ज्योति आनन्द से पूर्ण है, तब इंद्रियो को रोक कर जब आत्मा का अनुभव किया जाता है, तब दुःख क्यों होना चाहिये ? ऐसी शिष्य की शंका का निरास आचार्य करते हैं :—

श्लोक—सुखमारब्ध योगस्य बहिर्दुःखमथात्मनि।
बहिरेवासुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः ॥५२

अन्वयार्थ—(आरब्ध योगस्य) जिसने आत्मध्यान का अभ्यास शुरू किया है अर्थात् जो पहले ही पहल आत्मस्वरूप की भावना में उद्यम करता है उसे (बहिः) आत्मस्वरूप से बाहर अन्य विषयों में (सुखं) सुख मालूम होता है (अथ) खेद है कि (आत्मनि) अपने आत्मस्वरूप के मनन में (दुःखम्) कष्ट होता है। परन्तु (भावितात्मनः) जिसने अपने आत्मा की भावना कर के यथावत् आत्मस्वरूप में अभ्यास कर लिया है, ऐसे जीव के (बहिः एव) आत्मा से बाहर के विषयों में ही (असुखं) दुःख मालूम होता है तथा (अध्यात्मं) अपने आत्मा के स्वरूप में ही (सुखं) सुख प्रगट होता है।

भावार्थ—शिष्य की शंका का आचार्य समाधान करते हैं कि जो आत्मस्वरूप की भावना को प्रारंभ करने वाला है। उस को अपने आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव जब तक नहीं होता है, तब तक उस को आत्म विचार में कष्ट। परंतु उस को छोड़ कर अन्य जो कार्य हैं जिन में उस का चिरकाल से अभ्यास पड़ा हुआ है अर्थात् आहार, विहार, व्यापार, वार्तालाप, विषय भोग आदि उन में सुख मालूम होता है। परंतु जिस को आत्मा के स्वरूप की भावना करके एक दफे भी अध्यात्मिक सुख का स्वाद मिल गया है, उसकी रुचि फिर आत्मा से बाहर जो अन्य आहार आदि के विषय हैं, उन में से हट जाती है। इस लिये निज आत्मा के अनुभव में तो आनन्द भासता है और उस से बाहर रहने में उसे कष्ट होता है। यह नियम ही है कि जिस को 'अमृतमयी जल का स्वाद जब तक नहीं आता है, वह तब तक खारी व फीके जल के स्वाद में संतुष्ट रहता है। फिर जब अमृतमयी जल का स्वाद एक दफे भी हो जाता है तब उस की रुचि फीके जल से हट जाती है। तथा जब तक अमृतमयी जल का स्वाद नहीं आता है तब ही तक उस की प्राप्ति के लिये जो चलने का परिश्रम है उस में कष्ट मालूम होता है, पर उस के लाभ हो जाने पर फिर उस के लिये बार बार जाने में भी दुःख नहीं होता है। इसी तरह एक दफे आत्मानुभव हो जाने पर फिर उसके लिये उद्योग करने में कष्ट नहीं मालूम होता, प्रत्युत सुख होता है। पर जब तक ऐसा न हो तब तक पहले के अभ्यास में जो

सुख झलकता था, उसी में सुख और नये उद्यम में कष्ट मालूम होता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा की भावना अनेक कष्टों को सह कर के भी करना चाहिये, जिस से अध्यात्मिक आनन्द का लाभ हो और संसारिक कष्ट दूर हो जावें।

आगे की उत्थानिका—आचार्य कहते हैं कि आत्मस्वरूप की भावना को इस प्रकार करना चाहिये:—

श्लोक—तद्ब्रूयात्तत्परान् पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत् ॥५३

अन्वयार्थ—(तत्) उस आत्मस्वरूप को (ब्रूयात्) कहे अर्थात् उसी का व्याख्यान करे (तत्) उसी आत्मस्वरूप को (परान्) दूसरों से जिन को आत्मस्वरूप का अच्छा ज्ञान तथा अनुभव है (पृच्छेत्) पूछे (तत्) उसी आत्मस्वरूप को (इच्छेत्) चाहे, अर्थात् उसी की प्राप्ति की दृढ़ कामना करे (तत्परः भवेत्) उसी आत्मस्वरूप की भावना में आदरवान होकर लीन होवे (येन) जिस आत्मस्वरूप के द्वारा अर्थात् जिस आत्मस्वरूप की भावना करने से (अविद्यामयं रूपं) अज्ञानमयी विभाव अर्थात् बहिरात्मस्वभाव को (त्यक्त्वा) छोड़कर (विद्यामयं) ज्ञानमयी अर्थात् अंतरात्मस्वभावमयी अथवा केवलज्ञानमयी अवस्था को (व्रजेत्) प्राप्त होवे।

भावार्थ—यहां आचार्य ने सम्यग्दर्शन तथा केवल ज्ञान की प्राप्ति का एकमात्र उपाय आत्मस्वरूप की भावना को बतलाया है। जब तक मुमुक्षु जीव को स्वात्मानुभव का लाभ न हो, तब तक उस को आत्मस्वरूप का ही कथन करना, उसी के सम्बन्ध में दूसरों से प्रश्न करना, उसी की ही चाहना करना व उसी की भावना में निरन्तर लीन होना चाहिये। जैसे किसी को गान विद्या सीखनी हो तो उसका उपयोग हर तरह उसी की तरफ रहना चाहिये, तब वह गान विद्या का पंडित हो जायगा। इसी तरह भेदविज्ञान या सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये हर तरह

आत्मस्वरूप की चर्चा तथा भावना करनी चाहिये। पुनः पुनः आत्मतत्त्व का विचार करने से मिथ्याज्ञान श्रद्धान नष्ट होगा और सम्यक्त्व भाव का लाभ हो जायगा। जब सम्यक्त्व या भेद ज्ञान हो जावे तब भी आत्मभाव को न छोड़े, बराबर आत्मा के स्वरूप का स्वाध्याय, मनन तथा ध्यान करते जाना चाहिये। इसी आत्मानुभव के बल से कषायों का बल घटता है। ज्यों २ कषाय कमजोर पड़ती है, देशचारित्र व सकलचारित्र का ग्रहण होता है, आत्मध्यान बढ़ता जाता है। इसी आत्मध्यान के प्रताप से एक दिन यह मुमुक्षु केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है। इस लिये परमात्मस्वरूप की प्राप्ति तथा अन्तरात्मस्वरूप की प्राप्ति दोनों ही कार्यों के लिये आत्मा की चर्चा व भावना कार्यकारी है।

आगे की उत्थानिका—अब यहां कोई शंका करता है कि वचन और काय को छोड़ कर आत्मा कोई दूसरा इन से भिन्न पदार्थ नहीं है, तब उस की चर्चा करो व उसी की भावना करो, यह बात कहनी ठीक नहीं है। इसी का समाधान आचार्य करते हैं:—

श्लोक—शरीरे वाचि चात्मानं सन्धत्ते वाक्शरीरयोः।
भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं पृथगेषां विबुध्यते॥५४॥

अन्वयार्थ—(वाक्शरीरयोः) वचन और शरीर में (भ्रांतः) आत्मा की मान्यता करने वाला बहिरात्मा (शरीरे च वाचि) शरीर और वचन में (आत्मानं) आत्मा को (सन्धत्ते) आरोपण करता है। (पुनः)

कल्पता है। परन्तु जो आत्मा को निश्चयनय से देख कर उसके त्रिकाल अवाधित तदात्म्यस्वरूप पारिणामिकभाव की श्रद्धा रखता है, उसके दिल में कभी भी पर में अहंबुद्धि नहीं होती। व्यवहार में अपने को शरीर-रूप व अनेक अवस्थारूप कहता हुआ भी अपनी श्रद्धा में उन को अपना नहीं जानता है, यही अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टी का लक्षण है। गृहस्थ सम्यग्दृष्टी जीव बाहर से धन, धान्य, क्षेत्र, स्त्री, पुत्रादि पदार्थों को अपना कहता है, अपना मानकर व्यवहार करता है, तौ भी उन से इतना वैराग्यवान है कि यदि उनका वियोग हो जाय तो कुछ भी शोक दिल में नहीं लाता है। वह इन सब को केवल थोड़े दिन के लिये अपना सेवक मान लेता है। जैसे वेतन देकर नौकरी करते हुए सेवक के चले जाने पर मालिक को कोई दुःख नहीं होता, इसीलिये कि वह पर है, इसी तरह शरीरादि के छूटते व बिगड़ते हुए ज्ञानी को कोई शोक नहीं होता, क्योंकि उस के मन में गाढ़ श्रद्धा है कि ये सब पर वस्तुएं हैं।

आगे की उत्थानिका—मूढ़ बुद्धि बहिरात्मा इस तरह आत्मा के सच्चे स्वरूप को न जानता हुआ जिन इन्द्रियों के विषयों में आशक्त चित्त होजाता है, फंस जाता है, उन में से कोई भी उस का उपकार करने वाला नहीं होता है, ऐसा आचार्य कहते हैं:—

श्लोक—न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत् क्षेमङ्करमात्मनः ।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात् ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थ—(इन्द्रियार्थेषु)। पांचों इन्द्रियों के विषयरूप पदार्थों में (यत्) जो कोई (आत्मनः) इस आत्मा का (क्षेमङ्करं) कुशलक्षेम करने वाला हो (तत्) सो कोई (न अस्ति) नहीं है। (तथापि) तौ भी (बालः) यह बालकवत् मूढ़ अज्ञानी बहिरात्मा (अज्ञानभावनात्) अपने अनादि कालीन मिथ्यात्व के संस्कार से पाई हुई अज्ञान भावना के जोर से (तत्रैव) उन्हीं इन्द्रियों के विषयों में (रमते) रमण करता है, प्रीति करता है और अपने स्वस्वरूप में रमण नहीं करता है।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि यदि भले प्रकार विचार किया जाय तो पांचों इन्द्रियों के द्वारा जो २ पदार्थ भोगने में आते हैं, जैसे भोजनादि अचेतन व चेतन पदार्थ उन में जो मोह व रागद्वेष है वह इस आत्मा का हानि कारक है, उपकारक नहीं है। क्योंकि आत्मा का स्वभाव पवित्र, ज्ञाता, दृष्टा और सुखमयी निराकुल है और रागादि का स्वभाव अपवित्र, जड़ तथा दुखमयी, आकुलतामय है। इसलिये जब रागद्वेष भाव अपने उपयोग में झलकता है, आत्मा की पवित्रता बिगड़ती है, ज्ञान में विकार होता है और बड़ी आकुलता उत्पन्न हो जाती है। मलीन परिणामों के कारण नवीन कर्मों का बंधन हो जाता है, जिस बंधन के फल से आत्मा को दुर्गति व अशुभ संयोगों का सम्बन्ध प्राप्त होने वाला है। ऐसा ही निर्णयकर श्री कुंदकुंदमहाराज ने श्री प्रवचनसार में इन्द्रियसुख का स्वरूप इस भांति बतलाया है—

गाथा—सपरं बाधासहिदं विछिरणं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिए हिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तधा ॥१०६॥

भावार्थ—इन्द्रियों से जो सुख होता है सो पराधीन है, बाधा सहित है, नाश होने वाला है, पाप बंध का कारण है तथा चंचल है, इस लिये वह दुःखरूप ही है।

इस लिये यह बात सिद्ध है कि इन विषय भोगों में कोई भी भलाई इस आत्मा की नहीं है, किन्तु उल्टी बुराई है। परन्तु अज्ञानी बहिरात्मा को पर द्रव्यों से भिन्न आत्मा की व उस में रहने वाले अतीन्द्रिय सुख की जो निरवधि, स्वाधीन, निराकुल तथा बंधछेदक है, प्रतीति नहीं होती। इसी से उस अज्ञानी को बाहरी पदार्थों में ही सुख भासता है, बस, पुनः पुनः दौड़कर दुःख, शोक व रंज उठाते हुए भी उन्हीं इन्द्रियों के पदार्थों में जाता है और उन्हीं में आशक्त हो जाता है। उस के चित्त में ऐसी गाढ़ी अज्ञान की भावना बैठी हुई है, जिस से उस की बुद्धि में आत्मा का स्वरूप नहीं आता, उस का सर्वस्व इन्द्रियभोग में ही रहता है। तात्पर्य यह है कि ऐसी अज्ञान दशा छोड़ कर ज्ञानरूप होना कार्यकारी है।

आगे की उत्थानिका—आगे फिर भी आचार्य अनादि काल के मिथ्यात्व के संस्कार के आधीन होने से बहिरात्माओं की दशा जिस प्रकार की होती है, उसे बतलाते हैं:—

श्लोक-चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु ।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति ॥ ५६ ॥

अन्वयार्थ—(तमसि) अनादि काल के मिथ्यात्व संस्काररूपी अंधकार के होते हुए (मूढात्मानः) मूढ़ बहिरात्मा प्राणी (चिरं) अनादिकाल से (कुयोनिषु) नित्य निगोद आदि ८४ लक्ष योनियों में (सुषुप्ताः) सोए पड़े हुए थे, उनको अपने आत्मस्वरूप की कुछ भी खबर नहीं थी। मनरहित अवस्थाओं में तो विचार करने का अवसर नहीं होता। इस तरह कदाचित् वे मन सहित अवस्थाओं में जन्म धारते हैं तब कुछ समझने लगते हैं। परंतु अज्ञान के होते हुए उन अवस्थाओं में भी (अनात्मीयात्मभूतेषु) अनात्मीय जो पुत्र, स्त्री, धन आदि बिलकुल पर वस्तु तथा आत्मीय जो शरीर इन्द्रियें आदि इनमें (मम अहम् इति) ममकार अहंकार करता हुआ अर्थात् पुत्र, स्त्री आदि में ममपना तथा शरीर व इन्द्रियों व भावकर्म राग द्वेषादि में अहंपना करता (जाग्रति) जागता है अर्थात् संज्ञी अवस्था में भी अज्ञान की वासना से अपने असल स्वरूप को नहीं समझकर पर में ही अहंकार ममकार किया करता है।

भावार्थ—आचार्य अज्ञानी बहिरात्माओं की दशा बताते हैं कि ये जीव अनादि काल से कर्मों से ऐसे बंधे हैं कि अपने सच्चे स्वरूप को बिल्कुल नहीं जानते हैं। हर एक पर्याय में पर्याय बुद्धिरूप बने रहते हैं। जब इनके मन नहीं होता, ऐसी निगोद से ले असैनी पंचेन्द्री तक की पर्यायों में विचार करने की शक्ति इनमें नहीं होती, इसलिये बिलकुल गाफिल रहते हैं। पुण्य योग से यदि मनवाले भी होते हैं और उस दशा में विचार करने की शक्ति भी पाते हैं तो भी मिथ्यात्व के कारण उलटा ही विचार करते हैं। अपना असलस्वरूप शुद्ध ज्ञानानन्दमय है, ऐसा न पहचानते हुए अपने को स्त्री, पुरुष, नपुंसक, राजा, सेठ, सेवक आदि

रूप मान लेते हैं। मैं क्रोधी, मैं मानी, मैं लोभी, मैं भयवान, मैं कामी, मैं परोपकारी, मैं दयावान्, मैं गृहस्थ, मैं साधु इस तरह अहंकार किया करते हैं तथा मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, मेरा धन, मेरा घर, मेरे खेत, मेरे वस्त्र, मेरा राज्य, मेरा देश इत्यादि रूप से पर में ममकार किया करते हैं, इस तरह विपरीतता से ही जागते हैं। प्रयोजन यह है कि जागने पर भी नहीं जागते हैं। उनका जागना भी मिथ्या होता है। इस तरह वहिरात्मा हर एक पर्याय में महा क्लेश व दुःख उठाया करते हैं। तात्पर्य यह है कि इस लिए हर एक भव्य जीव को उद्यम करके अपना असलस्वरूप अवश्य पहचानना चाहिये। क्योंकि जब तक स्वरूप को यह प्राणी नहीं जानता है, तब तक इस का मिथ्या अहंकार ममकार नहीं छूटता है।

आगे की उत्थानिका—आगे आचार्य कहते हैं कि हे भव्य जीवो! अपना वहिरात्मास्वभाव छोड़कर अपने शरीर को कभी भी अपना न मानो, किन्तु उस को इस तरह अनुभव करो:—

श्लोक-पश्येन्निरंतरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा।
अपरात्मधियाऽन्येषामात्मतत्त्वे व्यवस्थितः॥ ५७॥

अन्वयार्थ—(आत्मतत्त्वे) आत्मा के यथार्थस्वरूप में (व्यवस्थितः) अपनी व्यवस्था रखता हुआ अन्तरात्मा (आत्मनः देहं) अपने शरीर को (अनात्मचेतसा) अनात्म बुद्धि से अर्थात् यह देह मेरा आत्मा नहीं है, इस बुद्धि से (अन्येषां) दूसरे प्राणियों के शरीर को (अपरात्मधिया) दूसरों की आत्मा नहीं है, इस बुद्धि से अर्थात् अनात्मबुद्धि से (निरंतरं) सदा ही (पश्येत्) देखे।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि अन्तरात्मा को उचित है कि वह पदार्थों का जैसा यथार्थस्वरूप है वैसा ही जाने, अन्य का स्वभाव अन्य में न लगावे। जीव का भाव पुद्गल में और पुद्गल का भाव जीव में न कल्पे। इसीलिये वह अन्तरात्मा अपने शरीर को व अन्य पुद्गल सम्बन्ध को तथा कर्मकृत रागादि औपाधिक भावों को अपने आत्मा का असल स्वाभाव है, ऐसा कभी नहीं समझता है। इसी तरह दूसरे के शरीर व अन्य पुद्गल

सम्बन्ध को व कर्मकृत रागादि भावों को भी दूसरों की आत्मा है, ऐसा निश्चय नहीं करता। जैसे अपने आत्मा के स्वभाव को पुद्गल से भिन्न अनुभव करता है, वैसे दूसरों की आत्माओं को पुद्गल से भिन्न जानता है। जैसे कोई मनुष्य अपने घर में रक्खे हुए घी के घड़ों को देख कर उन घड़ों को भी मिट्टी का ही समझता है, घी को घड़ों से अलग जानता है। इसी तरह दूसरों के घरों में रक्खे हुए घी के घड़ों को भी मिट्टी के घड़े समझता है, उन में रक्खे हुए घी को उन घड़ों से अलग देखता है। किसी भी दशा में तो मिट्टी को मिट्टी तथा घी को घी समझना ही ज्ञानी का स्वरूप है। इसी तरह किसी भी पर्याय में कोई भी आत्मा हो, आत्मा को आत्मारूप और पुद्गल को पुद्गलस्वरूप समझना ही ज्ञानी का स्वभाव है। इसी कारण सम्यग्दृष्टी जीव व्यवहार में भिन्न २ नामों से कहते हुए व भिन्न २ का व्यवहार करते हुए भी आत्मा के पर्याय स्वभाव के निश्चय से कभी गिरता नहीं है। अनुभव के समय सर्व आत्माओं को एक समान अनुभव कर परम समताभाव में लीन रहता है, राग द्वेष की कल्पनामात्र को त्याग देता है।

आगे की उत्थानिका—आगे शिष्य शंका करता है कि जो आत्मस्वरूप को स्वयं अनुभव करते हैं वे उसे स्वयं अनुभव कर मूढ़ अज्ञानी जीवों को क्यों नहीं बताते हैं, क्योंकि वे मूढ़ उस आत्मस्वरूप को नहीं जानते हैं। यदि उनको बताया जाय तो वे भी जानकर सुखी होवें, इसके समाधान में आचार्य गूढ़ मर्म की तरफ झुकते हुए इस भांति कहते हैं:—

श्लोक-अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा।
मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथा मे ज्ञापनश्रमः ॥ ५८ ॥

अन्वयार्थ—(मूढात्मानः) अज्ञानी मूर्ख प्राणी (यथा) जिस तरह (अज्ञापितं) विना समझाए हुए (मां) मेरे अर्थात् आत्मा के स्वरूप को (न जानन्ति) नहीं जानते हैं (तथा) तैसे ही (ज्ञापितं) समझाए जाने पर भी आत्मा के स्वरूप को नहीं जानते हैं, क्योंकि उनके मिथ्यात्व भाव की प्रबलता है। जब वे किसी तरह समझ नहीं सकते (ततः) तब

(तेषां) उन मूढात्माओं के लिये (मे) मेरा (ज्ञापनश्रमः) समझाने का परिश्रम (वृथा) निष्फल है।

इसी सम्बन्ध में दूसरा श्लोक कहते हैं—

श्लोक–यद्बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यबोधये ॥५६॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिस विकल्प सहित आत्मस्वरूप को या देहादिक को (बोधयितुम्) समझाने की (इच्छामि) इच्छा करता हूं (तत्) वह (अहं) मैं शुद्ध आत्मा निश्चय से (न) नहीं हूं। (पुनः) और (यत्) जो चिदानन्दमयी स्वरूप स्वयं अनुभवने योग्य (अहं) मैं भी हूं, (तदपि) सो ही (अन्यस्य) दूसरे से (ग्राह्यं न) समझने योग्य नहीं है, वह तो स्वयं अनुभवने योग्य है। (तत) इसलिये (अन्यस्य) दूसरे को (किम्) क्या (बोधये) मैं समझाऊं।

भावार्थ—आचार्य यहां पर ध्यान की उन्नति करने वाले को सम्बोधन करके कहते हैं, कि जो तेरे यह विकल्प है कि मैं मूढ़-अज्ञानियों को समझाकर उन्हें भी स्वानुभवी बना दूं, सो तेरा यह विकल्प ठीक नहीं है। क्योंकि जिन जीवों के मिथ्यात्व का तीव्र उदय है उनको समझाये जाने से भी नहीं समझेंगे। जिस तरह न समझाए जाने से नहीं समझते हैं, इस लिये उनके लिये अपना परिश्रम वृथा जायगा। दूसरी बात यह है कि जिस आत्मा के स्वरुप को वचनों के समझाने का विकल्प किया जाता है, वह स्वरूप वचन के अगोचर है। वचनों से कुछ विशेषण [illegible] को

मिठाई का ठीक ज्ञान न होगा। परंतु ज़बान पर रखने के साथ ही उसको निश्चयपूर्वक यह ज्ञान होजायगा कि किस प्रकार मीठापन इस आप में है। जिस मीठेपन का ज्ञान करोड़ों दफे उसका स्वरूप सुनने पर न होता, वह ज्ञान एक क्षण में होजाता है। इसी तरह आत्मा का स्वरूप प्रत्येक के अपने अपने अनुभव में आने योग्य है। कोई भी प्राणी न वचनों से उसका यथार्थ स्वरूप कह सकता और न कोई सुनने मात्र ही से जान सकता है। परन्तु उसका एक क्षणमात्र अनुभव होने से आत्मा का स्वरूप जान लिया जाता है। यहां पर आचार्य ने अंतरात्मा के इस अहंकार को मिटाया है कि मैं दूसरों को आत्मज्ञानी बना सक्ता हूं। तात्पर्य यह कहने का है कि स्वानुभवकर्त्ता पुरुष को अपने स्वरूप को अनुभव में विशेष दिल लगाना चाहिये, पर को उपदेश करने के लिये अपना स्वहित न भुलाना चाहिये। तथा जब कोई संसार के दुःखों से भयभीत प्राणी मिले तब उस को वचनों से आत्मा का जो कुछ वक्तव्यस्वरूप है सो बताकर यह कहना चाहिये कि यह हमने केवल संकेत किया है। समझने वाले को तो स्वयं अपने भीतर नित्य मनन करके विचारना चाहिये। स्वानुभव ही से स्वस्वरूप समझने में आ सकता है। इस कथन से यह न समझना कि धर्मोपदेशरूप स्वाध्याय का निषेध किया है। स्वात्मध्यान का घात करके धर्मोपदेश करने की मनाई है, किन्तु जब स्वात्मानुभव में चित्त नहीं लगता है तब धर्मोपदेश भी करता है, परन्तु उस समय यह लोभ नहीं करता है कि मेरी बात को सब मान ही लें। उदासभाव से यथार्थस्वरूप समझाता है तथा मन में यह खूब जानता है कि इनके मिथ्यात्व का ज़ोर घटेगा, तब ही ये समझेंगे। मैं तो केवल निमित्तमात्र हूं, यदि कोई उसके उपदेश से ज्ञान की प्राप्ति कर लेता है, तो भी वह यह अहंकार नहीं करता है कि मेरे उपदेश से यह सुधरा है। उसके सुधरने में वह उसी के कर्म के क्षयोपशम का होना ही कारण जानता है, जिन के मोह का तीव्र उदय होता है। वे तो पदार्थ के समझने की रुचि भी नहीं करते तथा समझाये जाने पर भी उनके दिल में कुछ असर नहीं होता, परन्तु जिनके मंद उदय होता है उन को पर का उपदेश निमित्त पड़ जाता है। किसी भी तरह तत्त्वज्ञानी को परोपदेश के अहंकार में पड़कर अपने समाधिभाव को न गमाना चाहिये। समाधिभाव

(तेषां) उन मूढात्माओं के लिये (मे) मेरा (ज्ञापनश्रमः) समझाने का परिश्रम (वृथा) निष्फल है।

इसी सम्बन्ध में दूसरा श्लोक कहते हैं—

श्लोक-यद्बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यबोधये ॥५९॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिस विकल्प सहित आत्मस्वरूप को या देहादिक को (बोधयितुम्) समझाने की (इच्छामि) इच्छा करता हूं (तत्) वह (अहं) मैं शुद्ध आत्मा निश्चय से (न) नहीं हूं। (पुनः) और (यत्) जो चिदानन्दमयी स्वरूप स्वयं अनुभवने योग्य (अहं) मैं भी हू, (तदपि) सो ही (अन्यस्य) दूसरे से (ग्राह्यं न) समझने योग्य नहीं है, वह तो स्वयं अनुभवने योग्य है। (तत्) इसलिये (अन्यस्य) दूसरे को (किम्) क्या (बोधये) मैं समझाऊं।

भावार्थ—आचार्य यहां पर ध्यान की उन्नति करने वाले को सम्बोधन करके कहते हैं, कि जो तेरे यह विकल्प है कि मैं मूढ़-अज्ञानियों को समझाकर उन्हें भी स्वानुभवी बना दूं, सो तेरा यह विकल्प ठीक नहीं है। क्योंकि जिन जीवों के मिथ्यात्व का तीव्र उदय है उनको समझाये जाने से भी नहीं समझेंगे। जिस तरह न समझाए जाने से नहीं समझते हैं, इसलिये उनके लिये अपना परिश्रम वृथा जायगा। दूसरी बात यह है कि जिस आत्मा के स्वरूप को वचनों के समझाने का विकल्प किया जाता है, वह स्वरूप वचन के अगोचर है। वचनों से कुछ विशेषण संकेतरूप को जाते हैं। कोई भी प्राणी वचनमात्र से आत्मा का अखंड ज्ञानानंदमयः स्वरूप समझ नहीं सकता, उसका स्वरूप तो केवल अनुभव गोचर है। जैसे हम किसी ऐसे मनुष्य को जिसने आज तक कभी भी आम का फल नहीं चाखा है, आम के फल के सम्बन्ध में कहें कि यह आम तो इतना मीठा है कि मिश्री भी इसके सामने कोई वस्तु नहीं है। ऐसे मीठे आम के गुण सुन लेने पर भी तथा उस पर निश्चय कर लेने पर भी जब तक वह मनुष्य आम के फल को स्वादेगा नहीं, तब तक उस को उस आम की

मिठाई का ठीक ज्ञान न होगा। परंतु ज़बान पर रखने के साथ ही उसको निश्चयपूर्वक यह ज्ञान होजायगा कि किस प्रकार मीठापन इस आम में है। जिस मीठेपन का ज्ञान करोड़ों दफे उसका स्वरूप सुनने पर न होता, वह ज्ञान एक क्षण में होजाता है। इसी तरह आत्मा का स्वरूप प्रत्येक के अपने अपने अनुभव में आने योग्य है। कोई भी प्राणी न वचनों से उसका यथार्थ स्वरूप कह सकता और न कोई सुनने मात्र ही से जान सकता है। परन्तु उसका एक क्षणमात्र अनुभव होने से आत्मा का स्वरूप जान लिया जाता है। यहां पर आचार्य ने अंतरात्मा के इस अहंकार को मिटाया है कि मैं दूसरों को आत्मज्ञानी बना सक्ता हूं। तात्पर्य यह कहने का है कि स्वानुभवकर्त्ता पुरुष को अपने स्वरूप को अनुभव में विशेष दिल लगाना चाहिये, पर को उपदेश करने के लिये अपना स्वहित न भुलाना चाहिये। तथा जब कोई संसार के दुःखों से भयभीत प्राणी मिले तब उस को वचनों से आत्मा का जो कुछ वक्तव्यस्वरूप है सो बताकर यह कहना चाहिये कि यह हमने केवल संकेत किया है। समझने वाले को तो स्वयं अपने भीतर नित्य मनन करके विचारना चाहिये। स्वानुभव ही से स्वस्वरूप समझने में आ सकता है। इस कथन से यह न समझना कि धर्मोपदेशरूप स्वाध्याय का निषेध किया है। स्वात्मध्यान का घात करके धर्मोपदेश करने की मनाई है, किन्तु जब स्वात्मानुभव में चित्त नहीं लगता है तब धर्मोपदेश भी करता है, परन्तु उस समय यह क्षोभ नहीं करता है कि मेरी बात को सब मान ही लें। उदासभाव से यथार्थस्वरूप समझाता है तथा मन में यह खूब जानता है कि इनके मिथ्यात्त्व का ज़ोर घटेगा, तब ही ये समझेंगे। मैं तो केवल निमित्तमात्र हूं, यदि कोई उसके उपदेश से ज्ञान की प्राप्ति कर लेता है, तौ भी वह यह अहंकार नहीं करता है कि मेरे उपदेश से यह सुधरा है। उसके सुधरने में वह उसी के कर्म के क्षयोपशम का होना ही कारण जानता है, जिन के मोह का तीव्र उदय होता है। वे तो पदार्थ के समझने की रुचि भी नहीं करते तथा समझाये जाने पर भी उनके दिल में कुछ असर नहीं होता, परन्तु जिनके मंद उदय होता है उन को पर का उपदेश निमित्त पड़ जाता है। किसी भी तरह तत्त्वज्ञानी को परोपदेश के अहंकार में पड़कर अपने समाधिभाव को न गमाना चाहिये। समाधिभाव

(तेषां) उन मूढ़ात्माओं के लिये (मे) मेरा (ज्ञापनश्रमः) समझाने का परिश्रम (वृथा) निष्फल है।

इसी सम्बन्ध में दूसरा श्लोक कहते हैं—

श्लोक-यद्बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यवोधये ॥५६॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिस विकल्प सहित आत्मस्वरूप को या देहादिक को (वोधयितुम्) समझाने की (इच्छामि) इच्छा करता हू (तत्) वह (अहं) मैं शुद्ध आत्मा निश्चय से (न) नहीं हूं। (पुनः) और (यत्) जो चिदानन्दमयी स्वरूप स्वयं अनुभवने योग्य (अहं) मैं भी हू, (तदपि) सो ही (अन्यस्य) दूसरे से (ग्राह्यं न) समझने योग्य नहीं है, वह तो स्वयं अनुभवने योग्य है। (तत्) इसलिये (अन्यस्य) दूसरे को (किम्) क्या (वोधये) मैं समझाऊ।

भावार्थ—आचार्य यहा पर ध्यान की उन्नति करने वाले को सम्बोधन करके कहते हैं, कि जो तेरे यह विकल्प है कि मैं मूढ-अज्ञानियो को समझाकर उन्हें भी स्वानुभवी वना दूं, सो तेरा यह विकल्प ठीक नहीं है। क्योंकि जिन जीवों के मिथ्यात्व का तीव्र उदय है उनको समझाये जाने से भी नहीं समझेंगे। जिस तरह न समझाए जाने से नहीं समझते हैं, इस लिये उनके लिये अपना परिश्रम वृथा जायगा। दूसरी वात यह है कि जिस आत्मा के स्वरूप को वचनों के समझाने का विकल्प किया जाता है, वह स्वरूप वचन के अगोचर है। वचनो से कुछ विशेषण संकेतरूप को जाते हैं। कोई भी प्राणी वचनमात्र से आत्मा का अखंड ज्ञानानन्दमयः स्वरूप समझ नहीं सक्ता, उसका स्वरूप तो केवल अनुभव गोचर है। जैसे हम किसी ऐसे मनुष्य को जिसने आज तक कभी भी आम का फल नहीं चाखा है, आम के फल के सम्बन्ध में कहें कि यह आम तो इतना मीठा है कि मिश्री भी इसके सामने कोई वस्तु नहीं है। ऐसे मीठे आम के गुण सुन लेने पर भी तथा उस पर निश्चय कर लेने पर भी जब तक वह मनुष्य आम के फल को स्वादेगा नहीं, तब तक उस को उस आम की

मिठाई का ठीक ज्ञान न होगा। परंतु ज़बान पर रखने के साथ ही उसको निश्चयपूर्वक यह ज्ञान होजायगा कि किस प्रकार मीठापन इस आम में है। जिस मीठेपन का ज्ञान करोड़ों दफे उसका स्वरुप सुनने पर न होता, वह ज्ञान एक क्षण में होजाता है। इसी तरह आत्मा का स्वरूप प्रत्येक के अपने अपने अनुभव में आने योग्य है। कोई भी प्राणी न वचनों से उसका यथार्थ स्वरूप कह सकता और न कोई सुनने मात्र ही से जान सकता है। परन्तु उसका एक क्षणमात्र अनुभव होने से आत्मा का स्वरूप जान लिया जाता है। यहां पर आचार्य ने अंतरात्मा के इस अहंकार को मिटाया है कि मैं दूसरों को आत्मज्ञानी बना सक्ता हूं। तात्पर्य यह कहने का है कि स्वानुभवकर्त्ता पुरुष को अपने स्वरूप को अनुभव में विशेप दिल लगाना चाहिये, पर को उपदेश करने के लिये अपना स्वहित न भुलाना चाहिये। तथा जब कोई संसार के दुःखों से भयभीत प्राणी मिले तब उस को वचनों से आत्मा का जो कुछ वक्तव्यस्वरूप है सो बताकर यह कहना चाहिये कि यह हमने केवल संकेत किया है। समझने वाले को तो स्वयं अपने भीतर नित्य मनन करके विचारना चाहिये। स्वानुभव ही से स्वस्वरूप समझने में आ सकता है। इस कथन से यह न समझना कि धर्मोपदेशरूप स्वाध्याय का निपेध किया है। स्वात्मध्यान का घात करके धर्मोपदेश करने की मनाई है, किन्तु जब स्वात्मानुभव में चित्त नहीं लगता है तब धर्मोपदेश भी करता है, परन्तु उस समय यह क्षोभ नहीं करता है कि मेरी बात को सब मान ही लें। उदासभाव से यथार्थस्वरूप समझाता है तथा मन में यह खूब जानता है कि इनके मिथ्यात्व का ज़ोर घटेगा, तब ही ये समझेंगे। मैं तो केवल निमित्तमात्र हूं, यदि कोई उसके उपदेश से ज्ञान की प्राप्ति कर लेता है, तो भी वह यह अहंकार नहीं करता है कि मेरे उपदेश से यह सुधरा है। उसके सुधरने में वह उसी के कर्म के क्षयोपशम का होना ही कारण जानता है, जिन के मोह का तीव्र उदय होता है। वे तो पदार्थ के समझने की रुचि भी नहीं करते तथा समझाये जाने पर भी उनके दिल में कुछ असर नहीं होता, परन्तु जिनके मंद उदय होता है उन को पर का उपदेश निमित्त पड़ जाता है। किसी भी तरह तत्त्वज्ञानी को परोपदेश के अहंकार में पड़कर अपने समाधिभाव को न गमाना चाहिये। समाधिभाव

का साधन परोपदेश की उपेक्षाबुद्धि से ही होता है। यही कारण है जो तीर्थंकर महाराज तप को धारण करके केवल ज्ञान होने तक मौन रखते हैं, धर्मोपदेश नहीं देते।

आगे की उत्थानिका—अंतरंग तत्त्व को समझाए जाने पर भी वहिरात्मा का अनुराग उस तत्त्व में होना संभव नहीं है, क्योंकि मोह के उदय से उस का अनुराग बाहरी पदार्थों में ही होता है, इसी बात को दिखलाते हैं:—

श्लोक—बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुकः ॥६०॥

अन्वयार्थ—(अन्तरे पिहितज्योतिः) अंतरंग में जिसकी ज्ञान ज्योति, मोह या मिथ्यात्त्व से विपरीत हो रही है, ऐसा (मूढात्मा) मूढ़ बुद्धि अज्ञानी जीव (बहिः) बाहर शरीरादि पदार्थों में (तुष्यति) प्रीति करता है, परन्तु (प्रबुद्धात्मा) आत्मज्ञानी जीव जिसके मिथ्यात्त्व का उदय नहीं है (बहिर्व्यावृत्तकौतुकः) बाहर शरीरादि पदार्थों में मूर्छा को त्यागता हुआ (अन्तः) अंतरंग जो आत्मतत्त्व है, उस में (तुष्यति) प्रीति करता है।

भावार्थ—अज्ञानी वहिरात्मा को अनादि काल से अपने आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है, इसी से उस का ज्ञान मोह के उदय के वशीभूत हो बहुत ही मैला व बेहोश हो रहा है, इसी से उस को इन्द्रिय विषय भोगों का गाढ़ प्रेम है। जिस प्रेम के मद में चूर हुआ रहकर बाहरी शरीर, स्त्री, धन, पुत्र, मित्र जो २ पदार्थ अपनी विषय वासना के पोशक प्राप्त होते हैं, उन्हीं में अनुरागी होकर संतोष मानता है। जैसे एक गंवार मनुष्य सुन्दर मिठाई के स्वाद को न जानकर उसे तो खाता नहीं, किन्तु रूखे चने चबाने में आनन्द मानता है। या काग अन्नादि के भोजन को छोड़ कर विष्ठा के खाने में अनुरागी होजाता है। अथवा जोक जंतु छाती में लगकर अच्छे खून को तो छोड़ देती है, किन्तु मैले खून को

पीती है। अथवा एक मूर्ख बालक मिट्टी मिले हुए अनछने पानी को पानी जानकर पी लेता है। इसी तरह अज्ञानी आत्मा के आनंद को न पहचान कर विषय वासना में घुला. रह कर इन्द्रियों को संतुष्ट करने वाले पदार्थों में ही रंजायमान होता है। परंतु जिस के आत्मज्ञान व स्वानुभव एक दफे भी होने से अपने अतीन्द्रिय आनन्द का श्रद्धान हो गया है वह आत्मज्ञानी सदा ही शरीरादि बाहरी पदार्थों में बिलकुल आशक्त न होता हुआ अपने .आत्मिकतत्त्व के अनुभव में ही आनन्दित होता है। उस का प्रेम आत्मसुख में ही दृढ़तर होता है। इसी से आचार्य कहते हैं कि जैसे अंधे के सामने नाचना कार्यकारी नहीं, वैसे अज्ञानी मूढ़मति को समझाने मे कोई लाभ नहीं, व्यर्थ परिश्रम जाता है।

तात्पर्य यह है कि जो अपना स्वहित करना चाहते हैं, उन को उचित है कि वे विशेष पर को समझने के आग्रह में न पड़ें, किन्तु स्वरूप के अनुभव में सावधान रहें। यदि अचानक कोई अवसर आगया तो वीतराग भाव से उपदेश दे देता है। यदि कोई स्वीकार न करे तो किसी तरह का चित्त में खेद नहीं मानता है।

आगे की उत्थानिका—अंतरात्मा शरीर आदि के सम्बन्ध में भूषित करने व अलंकारित करने के अनुराग से क्यों हटा हुआ होता है, इसका समाधान आचार्य करते हैं:--

श्लोक--न जानन्ति शरीराणि सुखदुःखान्यबुद्धयः।
निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थ—(शरीराणि) शरीर सब (सुखदुःखानि) जड़ होने से सुखों तथा दुःखों को (न जानन्ति) नहीं जानते हैं (तथापि) तो भी (अबुद्धयः) अज्ञानी बहिरात्मा जीव (अत्र) इन्हीं शरीरों पर ही (निग्रहानुग्रहधियं) निग्रह अर्थात् दंड, अनुग्रह अर्थात् उपकार इन दोनों की बुद्धि (कुर्वते) करते हैं।

भावार्थ—यहां आचार्य ऊपर के प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं कि शरीर जड़ज्ञान रहित है। उस पर यदि कुछ उपकार या अपकार किया जाय तो वह सुखी या दुःखी नहीं होता है। यदि कोई शरीर से द्वेष करके उपवासादि कायक्लेश से शरीर को सुखावे तो वह शरीर दुःख नहीं मालूम करता और यदि शरीर पर राग करके उसको कड़े, माला, कटिसूत्र आदि आभूषण तथा मनोहर वस्त्रों से शोभित किया जाय तो वह कुछ सुख नहीं मालूम करता, क्योंकि शरीर में चेतनागुण नहीं है। यह अज्ञानी जीव शरीर को अपना मानता है, इस मोह के कारण शरीर की शोभा से सुखी होता तथा शरीर को क्लेश पहुंचने से दुःखी हो जाता है। कहने का प्रयोजन यह है कि जिसने विषय के सुखों को सुख माना है, ऐसा अज्ञानी जीव ही इष्ट शरीरादि पर वस्तुओं के रहते हुए सुखी व उन के बिगड़ते हुए दुःखी हो जाते हैं। यह बहिरात्मा जीवों की मिथ्याबुद्धि है, जिससे पर की शोभा व अशोभा से आप सुखी व दुःखी होते हैं। अन्तरात्मा ने क्योंकि विषयवासना का राग छोड़ दिया है और अपने अतीन्द्रिय आनन्द में ही सुख समझा है, इससे वह शरीर व उन के आश्रम में रहने वाली इन्द्रियों से अत्यन्त विरक्त है, इसलिये उस को शरीर को शोभित करने का अन्तरंग से मेम नहीं होता। व्यवहार में कहते हुए यदि लौकिकरीति के अनुसार शरीर को सजाना भी पड़ता है, तो भी भीतर रंजायमान नहीं होता। और यदि कर्मोदय से शरीर को भूख प्यास की तीव्र वेदना होकर शरीर गलने लग जावे, तो भी अपने मन में दुःखी नहीं होता। न शरीर से द्वेष करके स्वयं तीव्र काय क्लेशादि करके उसे मरण तुल्य बनाता है और न राग करने के उसे भोगों में स्वच्छन्द हो लगाता है। वह शरीर को एक चाकर के समान रखता है, उसे भोजनपानादि देता है, उसे स्थिर रखकर उस से अपना आत्मकार्य कर लेता है, व्यर्थ उसे कष्ट देकर मारता नहीं। उतना ही शरीर से तप करता है, उस तप से ध्यान और स्वाध्याय में दिन पर दिन उन्नति हो, कर्म न रहे।

आगे की उत्थानिका—जब तक शरीर आनन्द पर पदार्थों में आत्मपने की बुद्धि हो रही है, तब तक संसार है तथा इस बुद्धि के छूटने पर ही मुक्ति है, ऐसा दिखलाते हुए कहते हैं:—

श्लोक—स्वबुद्ध्या यावद्गृह्णीयात्कायवाक् चेतसां त्रयम्।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थ—(यावत्) जिस समय तक (कायवाक् चेतसां त्रयम्) शरीर, वचन और मन इन तीनों को (स्वबुद्ध्या) आत्मपने की बुद्धि से (गृह्णीयात्) ग्रहण करता है, (तावत्) उस समय तक (संसारः) संसार है अर्थात् संसार में भ्रमण है। (तु) परंतु (एतेषां) इन तीनों के (भेदाभ्यासे) भेदज्ञान होने से कि ये तीनों मन, वचन, काय आत्मा के स्वभाव से भिन्न हैं (निर्वृत्तिः) मुक्ति होती है, संसार से जीव छूट जाता है।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि जब तक यह जीव बहिरात्मा है अर्थात् शरीर आदि बाहिरी पदार्थों में आत्मपने की बुद्धि रखता है तथा ऐसी बुद्धि से उन में अत्यन्त मोही हो उन के साथ तन्मय होकर व्यवहार करता है, तब तक उस को संसारिक विषयों में अनुराग होता है। जिस राग बुद्धि से वह ऐसे ही कर्मबंध किया करता है, जिससे पुनः पुनः शरीर धारण करता है। और जब मन, वचन, काय और आत्मा का भेद विज्ञान हो जाता है, तब उस की रुचि अतीन्द्रिय सुख में हो जाती है, जिससे स्वयमेव संसार शरीर भोगों से वैराग्य हो जाता है। जिस का फल यह होता है कि उस के कर्मों की निर्जरा अधिक होती है तथा नवीन कर्मों का संवर भी होता है, जिससे वह अन्तरात्मा मोक्ष की निकटता पर आता जाता है और एक दिन पूर्ण तरह से मुक्त हो जाता है।

आगे की उत्थानिका—शरीर आदि से आत्मा का भेद विज्ञान हो जाने पर शरीर की दृढ़ता व मरणादि में आत्मा की दृढ़ता व मरणादि को अन्तरात्मा नहीं मानता है, इसी बात को आगे दिखलाते हैं:—

श्लोक--घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न घनं मन्यते तथा।
घने स्वदेहेऽप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः ६३।

अन्वयार्थ--(यथा) जैसे बुद्धिमान् (घने वस्त्रे) शरीर पर बहुत मोटे वस्त्रों को पहन लेने पर भी (आत्मानं) अपने को (घनं) मोटा (न मन्यते) नहीं मानता है, (तथा) तैसे (घने) मोटी (स्वदेहे अपि) अपनी देह होने पर भी (बुधः) बुद्धिमान् अंतरात्मा (आत्मानं) अपनी आत्मा को (घनं) मोटा (न मन्यते) नहीं मानता है।

भावार्थ—जैसे कोई दुबले पतले मनुष्य ने जाड़े के काल में बहुत मोटे रूई के कपड़े पहन लिये हों और बाहर से मोटा दिखता हो तो भी वह अपने शरीर को मोटा नहीं मानता है—शरीर को तो वह जैसा दुबला पतला ऐसा ही समझता है। ऐसे ही अन्तरात्मा ज्ञानी जीव अपनी देह मोटी देखकर अपनी आत्मा को मोटी देहरूप नहीं समझता है, उसे तो वह देह से भिन्न एक चैतन्यमयी मूर्ति ही जानता है, ऐसा ही और भी कहते हैं:-

श्लोकः—जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न जीर्णं मन्यते तथा।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः ॥६४॥

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (वस्त्रे जीर्णे) वस्त्रों को पुराना होते हुए कोई बुद्धिमान् (आत्मानं) अपनी देह को (जीर्णं) पुराना (न मन्यते) नहीं मानता है (तथा) तैसे ही (स्वदेहे) अपनी देह के (जीर्णे अपि) जीर्ण होने पर भी (बुधः) बुद्धिमान् (आत्मानं) अपनी आत्मा को (जीर्णं) पुराना (न मन्यते) नहीं मानता है, ऐसा ही और भी कहते हैं:-

श्लोकः—नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न नष्टं मन्यते तथा।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं बुध्यते बुधः ॥६५॥

अन्वयार्थ-(यथा) जैसे (वस्त्रे नष्टे) कपड़ों के नाश होने पर कोई (आत्मानं) अपने को (नष्टं) नाश हुआ (न मन्यते) नहीं मानता है (तथा) तैसे ही (बुधः) बुद्धिमान (स्वदेहे अपि नष्टे) अपनी देह के नष्ट होने पर भी (आत्मानं) अपनी आत्मा को (नष्टं) नष्ट हुआ (न मन्यते) नहीं मानता है। ऐसा ही और भी कहते हैं:-

श्लोकः—रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न रक्तं मन्यते तथा।
रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं-न रक्तं-मन्यते बुधः ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (वस्त्रे रक्ते) कपड़ों के लाल होते हुए व लाल रंग के कपड़े पहने हुए कोई (आत्मानं) अपनी देह को (रक्तं) लाल (न मन्यते) नहीं मानता है (तथा) तैसे (बुधः) बुद्धिमान (रक्ते स्वदेहे अपि) लाल रंग की अपनी देह होने पर भी (आत्मानं) अपने आत्मा को (रक्तं) लाल (न मन्यते) नहीं मानता है।

भावार्थ—यहां आचार्य ने भेदज्ञान की रीति बताई है। दो भिन्न २ पदार्थों के संयोग सम्बन्ध होने पर भी एक द्रव्य व उसके गुण तथा पर्याय दूसरे द्रव्य, गुण व पर्याय से एकमेक नहीं होसकते। और उसके लिये दृष्टान्त दिया है कि जैसे कोई मोटा कपड़ा पहने हो और शरीर दुबला हो, तो वह मोटे कपड़े को जुदा जानता है, उसके संयोग होने पर भी शरीर को मोटा नहीं मानता। इसी तरह यदि पुराने कपड़े पहने हो और शरीर युवा न हो, तो कोई भी शरीर को पुराना या वृद्ध नहीं मानता व किसी के कपड़े छिन्न भिन्न व नष्ट हो जायें, तो कोई भी शरीर को नष्ट भ्रष्ट हो गया, ऐसा नहीं मानता है। इसी तरह यदि कोई गोरे शरीर वाला लाल रंग के कपड़े पहने हो, तो लाल कपड़ों से शरीर लाल नहीं हो सकता, शरीर गोरा ही रहता है, ये सब दृष्टांत हैं। इसी तरह शरीर जो आत्मा के साथ है उस से आत्मा की अत्यन्त भिन्नता है, शरीर यदि जीर्ण होजाय तो आत्मा जीर्ण नहीं होता। शरीर यदि युवा मोटा ताजा हो, तो आत्मा युवा या मोटा ताजा नहीं होता। शरीर यदि रोग सहित होकर व सड़कर नष्ट भ्रष्ट हो जाय, तो

आत्मा नष्ट भ्रष्ट नहीं होता। शरीर यदि लाल, सफेद, गोरा, काला हो तो आत्मा लाल, सफेद, गोरा या काला नहीं होता। क्योंकि आत्मा अमूर्तिक, चैतन्य, धातुमयी, असंख्यात प्रदेशी, अखंड है तथा शरीर जड़ मूर्तीक परमाणुओं के स्कंधरूप खंड खंड होने वाला है। इस तरह शरीर की दशा बनने विगड़ने से आत्मा की दशा बनती विगडती नहीं– आत्मा न अपनी अखंडता को छोड़ता न चैतन्यपने को छोडता है। इसी तरह जो इस जीव के साथ तैजस व कार्माण शरीर है वह भी इस आत्मा से भिन्न है, क्योंकि वे पुद्गल जड है जबकि आत्मा चेतन है। कार्माण शरीर ज्ञानावरणादि आठ कर्म वर्गणाओं का समुदाय है, इस में समय समय और और वर्गणाएं आती हैं जब कि पुरानी वर्गणाएं छूटती हैं तथा इन कर्मों के उदय से जो कुछ राग द्वेषादि विकार आत्मा के भावों के साथ में होते है वे सब कोई आत्मा का स्वभाव नहीं हैं–कर्मों के उदय का रंग है। रंग पुद्गल का है, इससे जड है। जबकि यह आत्मा जिस पर रागादि का रंग चढ़ता है चेतन है। इस तरह यह आत्मा सर्वप्रकार पुद्गल के विकारों से भिन्न है। ऐसा जानकर अंतरात्मा अपने आत्मा के स्वभाव को सदा ही सिद्ध भगवान् के समान शुद्ध, ज्ञाता, दृष्टा, अविनाशी, आनन्दमय ही अनुभव करता है। शरीर के छूटने, विगड़ने, मरने आदि से अपना कोई विगाड़ व मरण नहीं मानता।

इस प्रकार शरीर आदि से भिन्न आत्मा को मानने वाले अंतरात्मा के जब ये शरीरादि काष्ठादि के समान मालूम होते हैं, तब इसको मुक्ति की योग्यता होती है, ऐसा दर्शाते हुए कहते हैं:—

श्लोक—यस्य सस्पन्दमाभाति निःस्पन्देन समं जगत्।
अप्रज्ञमक्रिया भोगं स शमं याति नेतरः ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस आत्मा के विचार में (सस्पन्दं) हिरता फिरता (जगत्) यह शरीरादिरूप जगत् (निःस्पन्देन समं) स्थिर के समान अर्थात् काष्ठ, पाषाणादि के बराबर (अप्रज्ञम्) प्रज्ञा रहित अचेतन जड़ तथा (अक्रिया भोगं) पदार्थ की चंचलता रूप क्रिया तथा सुखादि के अनुभवरूप भोग इन से रहित (आभाति) मालूम होता है। (सः)

वह पुरुष (शमं याति) परम वीतराग भाव को प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसका संसार, शरीर, भोगों पर वैराग्य होजाता है (इतरः न) और कोई दूसरा वैराग्यभाव को नहीं प्राप्त होता है।

भावार्थ—यहां पर यह आशय है कि समताभाव किस तरह के विचार से अंतरात्मा में पैदा होता है। यह शरीर व अन्य जड़ पदार्थ किसी चेतन व अचेतन की प्रेरणा से गमनागमन करते हैं। जिस समय पर्याय दृष्टि को गौण कर द्रव्य की दृष्टि से यह अंतरात्मा विचारता है तो छहों द्रव्य अपने अपने स्वभाव में मग्न मालूम होते हैं। जैसे सब जीव शुद्ध ज्ञानानंदमय वीतराग जानने में आते हैं, उसी तरह सर्व ही पुद्गल स्पर्श, रस, गंध, वर्णमयी मूर्तीक, जड़ काष्ट, पाषाण के समान दीखते हैं। धर्मादि चार द्रव्य तो सदा अपने स्वभाव में स्थिर हैं ही, केवल जीव तथा पुद्गल ही क्रियावान् हैं। इन्हीं की उलट फेर से अनेक अवस्थाएं जगत में होरही हैं, जिन में यह अज्ञानी जीव तन्मय होजाता है। इसीलिये पर्यायदृष्टि को गौण कर जब द्रव्य की दृष्टि से देखा जाता है, तब ये दोनों भी अपने अपने शुद्ध स्वभाव में दीखते हैं। इस द्रव्य दृष्टि के प्रताप से अंतरात्मा के राग, द्वेष, मोह सब जाते रहते हैं, और परम समताभाव तथा सहज आनन्द भाव पैदा होजाता है। तब चेतन बिना अचेतन जड़ जगत स्पष्ट २ ज्ञान रहित तथा चंचलता रहित और सुखादि के भोग रहित अपने स्वभाव में झलकता है। इस तरह जिस किसी भव्य प्राणी को द्रव्यार्थिकनय से भेद ज्ञान करने की आदत होजाती है उसी के परम शांतभाव होसक्ता है, दूसरे के नहीं। इसी शांतभाव से पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है तथा वह अतीन्द्रिय आनंद प्राप्त होता है जो सिद्ध अवस्था में सिद्धों को होता है। मन, वचन, काय की सम्पूर्ण क्रियाएं भी पर्यायदृष्टि से मालूम होती हैं। शुद्ध द्रव्य दृष्टि में ये भी काम करते नहीं मालूम होते, यह शांत भाव मुक्ति के वीतराग भाव का बीज है।

आगे की उत्थानिका—जब आत्मा शरीरादि से भिन्न है तथा इस का भिन्न अनुभव करनेसे परम शांति प्राप्त होती है, तब बहिरात्मा शरीरादि

पुद्गल द्रव्यों से भिन्न आत्मा को क्यों नहीं समझता है, इसी बात का समाधान आचार्य करते हैं:—

श्लोक—शरीरकञ्चुकेनात्मा संवृतज्ञानविग्रहः ।
नात्मानं बुध्यते तस्माद्भ्रमत्यतिचिरं भवे ॥६८॥

अन्वयार्थ—(शरीर कञ्चुकेन) कार्माण शरीररूपी कांचली से (संवृतज्ञान विग्रहः) जिस का ज्ञान शरीर ढक रहा है ऐसा (आत्मा) बहिरात्मा जीव (आत्मानं) अपने आत्मा को जैसा उस का सच्चा स्वरूप है वैसा (न बुध्यते) नहीं जानता है। (तस्मात्) इसी अज्ञान के कारण (अतिचिरं) बहुत दीर्घकाल तक (भवे) इस संसार में (भ्रमति) भ्रमण किया करता है।

भावार्थ—यहां आचार्य कहते हैं कि जिस जीव के साथ ज्ञानावरणी कर्म का तीव्र परदा पड़ा होता है, वह आत्मा का स्वरूप समझाये जाने पर भी नहीं समझता है, यदि समझता भी है तो कुछ का कुछ समझता है। उस की बुद्धि में सच्चा स्वरूप नहीं झलकता है। जो आत्मा को नहीं समझता, उसे उस अतीन्द्रिय सुख का भी निश्चय नहीं होता, जो आत्मा का स्वभाव है। इसीलिये वह अज्ञानी प्राणी इन्द्रिय सुखों में गाढ़ प्रेम रखता हुआ उसी कामना के लिये रात दिन चाहना करता है व उसके लिये उद्योग किया करता है, जिस कारण इसमें अत्यधिक रागद्वेष, मोह होता है। उन्हीं के निमित्त से तीव्रकर्मों का बंध हुआ करता है, जिससे दीर्घकाल संसार में भ्रमता है—संसार भ्रमण का कारण मिथ्यात्वरूप मोह तथा रागद्वेष है, जो आत्मज्ञान के अभाव में प्राणी के सदा हुआ करते हैं। इसलिये जो संसार से निवृत्ति चाहते हैं, उन्हें अज्ञान के अभाव का उद्योग करना जरूरी है।

आगे की उत्थानिका—शिष्य प्रश्न करता है कि जब बहिरात्मा जीव आत्मा के स्वरूप को जैसा उस आत्मा का स्वरूप है वैसा नहीं समझते हैं, तब ये आत्मा का स्वरूप कैसा जानते हैं, इसी का आचार्य समाधान करते हैं—

श्लोक—प्रविशद्गलितां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ।
स्थिति भ्रांत्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्धयः ॥ ६९ ॥

अन्वयार्थ—(अबुद्धयः) अज्ञानी वहिरात्मा जीव (समाकृतौ) समान आकार में अर्थात् आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध रखते हुए (प्रविशद्गलितां) आते और जाते हुए (अणूनां) परमाणुओं के (व्यूहे) समुदायरूप (देहे) देह में (स्थिति भ्रांत्या) स्थिति रहने के भ्रम से अर्थात् देह सदा बनी रहेगी, इस भ्रम से (तम्) उस देह को (आत्मानम्) आत्मा (प्रपद्यन्ते) समझ लेते हैं–उनको देह और आत्मा का एक ही रूप है, ऐसा मिथ्या श्रद्धान होता है।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि अज्ञानी जीव इस शरीर को ही आत्मा मानलेते हैं–यद्यपि शरीर पुद्गल के परमाणुओं का समूह है, इसमें नए परमाणु आकर मिलते रहते और पुराने छूटते रहते हैं–तो भी अज्ञानी जीव इस शरीर को एकसा एक रूप मानकर उसमें फिर बुद्धि करलेता है। समझता है कि यह शरीर एक अखंड है तथा सदा बना रहेगा। शरीर तो बहुत से परमाणुओं का समूह है, एक अखंड नहीं है–तथा यह शरीर आयुकर्म के आधीन है, जब आयु पूरी होजाती है तब जिन परमाणुओं का शरीर में बंधान है वे खिर जाते हैं। आत्मा और शरीर का ऐसा एकमेक सम्बन्ध है कि जहां आत्मा है वहीं शरीर के परमाणु तिष्ठते हैं। अज्ञानी जीव को भिन्न आत्मा का स्वरूप मालूम नहीं होता, इसीसे वह अहं बुद्धि करके अपने को शरीररूप ही देखता जानता है। शरीर के पुष्ट व बलवान होने में मैं पुष्ट व बलवान हूं, शरीर के निरोग होने में मैं निरोग हूं, शरीर के सुन्दर होने में मैं सुन्दर हूं, शरीर के रोगी होने में मैं रोगी हूं, शरीर के मरने पर मैं मरता हूं, इत्यादि शरीररूप अपने को मानकर जो जो शरीर की दशा होती है, उसे अपनी दशा समझता है। शरीर के सातारूप रहने में सुखी व असातारूप होने में दुःखी होजाता है। अज्ञानी जीव परमाणुओं के मिलने विछुड़ने से शरीर होता है, ऐसा ध्यान में न रखकर उसे अखंड मानता है व उसका दीर्घकाल रहना वांछता है। अपना आपपना देह ही में मानलेता है। शुद्ध, बुद्ध, ज्ञाता, दृष्टा, आनंदमयी एक चैतन्य पदार्थ आत्मा है, ऐसा वह अज्ञानी नहीं समझता है।

आगे की उत्थानिका—अब आचार्य कहते हैं कि जिस अज्ञानी जीव को आत्माका यथार्थ स्वभाव नहीं मालूम है, उसको यथार्थ आत्मा के स्वरूप के जानने की इच्छा से अपने आत्मा को देह से भिन्न जानने के लिये इस तरह भावना करनी चाहिये:-

श्लोक—गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यंगेनाविशेषयन् ।
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञतिविग्रहम् ॥ ७० ॥

अन्वयार्थ—(अहं) मैं (गौरः) गोरा (स्थूलः) मोटा (वा कृशः) या दुबला हूं (इति) इस प्रकार की मान्यता को (अंगेन) शरीर के साथ (अविशेषयन्) एकरूप मानता हुआ अर्थात् गोरापना, मोटापना, दुबलापना, आदि अवस्था मेरे आत्मा की नहीं है किन्तु इस शरीर की है, ऐसा जानता हुआ (नित्यं) सर्वदा (आत्मानं) अपने आत्मा को (केवल ज्ञप्तिविग्रहम्) केवल ज्ञानस्वरूप अथवा रूपादि रहित ज्ञानरूप ही है, एक स्वरूप जिसका ऐसा (धारयेत्) अपने चित्त में धारण करे ।

भावार्थ—जो भव्यजीव अपने आत्मा का अनुभव करना चाहे, उसे बारबार आत्मा का स्वरूप शरीर आदि के स्वरूप से भिन्न विचारना, मनन करना तथा धारना चाहिये । लक्षण से लक्ष्य को जुदा २ विचारना चाहिये, जिसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्शमयी मूर्ति न हो तथा जो चेतना अर्थात् ज्ञान दर्शनस्वरूप हो और राग द्वेषादि कर्म निमित्त से होने वाले औपाधिक भावों से जुदा हो ऐसा जो कोई है परमात्मा के समान सो तो मेरा आत्मा है तथा इस के विरुद्ध जिसमें ये आत्मिक गुण न हों अर्थात् जिसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श हो व चेतना रहित हो सो पुद्गल है, जड़ है तथा ऐसा ही मेरा स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर है । स्थूल औदारिक शरीर भी ऐसा ही है तथा सूक्ष्म तैजस और कार्माण शरीर भी ऐसा ही है। मैं आत्मा ज्ञायक हूं, पुद्गल अनात्मा अज्ञायक है, मेरे द्वारा जानने योग्य है। इस तरह बारबार शरीर के स्वभाव से भिन्न और अपने स्वभाव में तन्मई ऐसे आत्मा की भावना करनी चाहिए। कर्मोदय से होने वाली जो जीवसमास, मार्गणा व गुणस्थान रूप अवस्थाएं जीव की कही जाती हैं वे भी आत्मा का निज

स्वभाव न होने से आत्मा से भिन्न हैं। इस तरह भेदज्ञान के बल से अपने आत्मा को सिद्ध के समान विचारना चाहिए। महीनों, वर्षों निरंतर इसी बात का अभ्यास रखना चाहिये, बारबार अभ्यास करने की इस लिये जरूरत है कि इस जीव को अनादि काल से पर स्वरूप ही आत्मा का अनुभव है, तब यह मिथ्या अनुभव मिटे और यथार्थ अनुभव की प्राप्ति हो, इस लिए पुनः पुनः भेदज्ञान के अभ्यास को करके अपनी वृत्ति को आत्मास्वरूप बनाना चाहिए।

आगे की उत्थानिका—आचार्य कहते हैं जो इस प्रकार आत्मा को एकाग्रमन से भाता है उसी को ही मुक्ति होती है, दूसरे को नहीं।

श्लोक—मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचलाधृतिः।
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः ॥७१॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस अन्तरात्मा के (चित्ते) चित्त में (अचला) निश्चल मज़बूत (धृतिः) आत्मस्वरूप में धारणा है अथवा स्वस्वरूप में लवलीनता है (तस्य) उस महा पुरुष के (मुक्तिः) मुक्ति होनी व कर्मों से छूटकर स्वाधीन स्वतंत्र होना (एकान्तिकी) अवश्यम्भावी अर्थात जरूर सिद्ध है। तथा

(यस्य) जिसके (अचला धृतिः) निश्चलता से आत्मस्वरूप में थिरता (नास्ति) नहीं है (तस्य) उस समाधि रहित पुरुष की (मुक्तिः) मोक्ष होना (एकान्तिकी न) अवश्य असिद्ध है।

भावार्थ—यहां पर आचार्य मोक्ष प्राप्ति व स्वस्वरूप साधन का पक्का साधन व समर्थ कारण बताते हैं। जिस कारण के होने पर कार्य अवश्य हो व न होने पर न हो, उस को समर्थ कारण कहते हैं। मोक्ष का मार्ग सिद्धांत में सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र है, इसी को रत्नत्रय कहते हैं। इस के दो भेद हैं एक भेद रत्नत्रय दूसरा अभेद रत्नत्रय। भेद रत्नत्रय अभेद रत्नत्रय का निमित्त कारण है तथा अभेद रत्नत्रय साक्षात् उपादान व समर्थ कारण है। यथार्थ देवगुरु शास्त्र का श्रद्धान व सात तत्त्वों का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है। इन्हीं का निश्चयपूर्वक ज्ञान व्यवहार सम्यग्ज्ञान है तथा अशुभोपयोग से

छूटकर महाव्रत या अणुव्रतरूप शुभोपयोग में वर्तना सो व्यवहार सम्यग् चारित्र है। इन्हीं तीनों की एकता को भेद व व्यवहार रत्नत्रय कहते हैं, इनके निमित्त से आत्मा को ज्ञाता, दृष्टा, आनन्दमयी, अमूर्तिक, परमात्मा सिद्ध भगवान् के समान् निर्विकार निश्चय करना व ऐसा ही जानना व इसी प्रकार के स्वरूप में ऐसा लवलीन हो जाना कि जिस में आपसे ही आपका अनुभव हो, ऐसा कि आप आप ही अपने स्वाद में तन्मय हो जावे। इस तरह कि तब विकल्पों का होना बन्द हो जावे, मानो मन मरजावे या उपयोग अपनी मातृ-भूमि आत्मा की सत्ता में ही थम जावे, इसे ही निश्चय या अभेद रत्नत्रय कहते हैं। जिस महापुरुष की प्रवृत्ति इस अभेद रत्नत्रयस्वरूप स्वानुभव में होगी वह अवश्य कर्मों को नाश कर एक दिन मुक्ति का भाजन हो जायगा, इस में कुछ भी शंका नहीं है। पस, जिसके व्यवहार धर्म, तप, व्रत आदि में चलते हुए भी अभेद रत्नत्रय के स्वरूप में थिरता नहीं है, वह कभी भी मुक्ति को नहीं पा सकता। क्योंकि उसके वह परमपूजनीय वीतरागता ही नहीं होती जो कर्मों की निर्जरा कर सके। तात्पर्य यह है कि जो स्वकल्याण करना चाहे उस को जिस तरह बने अपने स्वरूप में निश्चलता करनी चाहिये और स्वानुभव का परमानन्द प्राप्त करना चाहिये।

आगे का उत्थानिका—आचार्य कहते हैं कि चित्त निश्चलता के साथ अपने स्वरूप में प्रवृत्ति उसी वक्त होगी जब लोगों के मिलने जुलने को छोड़कर आत्मस्वरूप का अनुभव किया जावे। बिना संसर्ग छोड़े स्वानुभव न होगा और बिना स्वानुभव के मुक्ति का समर्थ कारण न बनेगा।

श्लोक—जनेभ्यो वाक्ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः॥
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत्॥७२॥

अन्वयार्थ—(जनेभ्यो) मनुष्यों के संगम होने से (वाक्) वचन की प्रवृत्ति होती है। (ततः) इस वचन विलास से (मनसः) मन की (स्पन्दः) व्यग्रता व मन की फिरन होती है (तस्मात्) उस चित्त के फिरने से (चित्तविभ्रमाः) नाना प्रकार मन के विकल्प (भवन्ति) होते हैं (ततः) इस लिये (योगी) ध्यान करने का इच्छुक योगी (जनैः) मनुष्यों के साथ (संसर्गं) हेल मेल को (त्यजेत्) छोड़ देवे।

भावार्थ—यहां पर आचार्य कहते हैं कि स्वानुभव का उपाय अपने चित्त की वृत्ति को आत्मा के स्वरूप में तन्मय करना है। चित्त ऐसा चंचल है कि जब इस के आकर्षण के कारण दूसरे नहीं होते हैं तब यह अपने स्वरूप के अनुभव में तन्मयता करता है। जब कोई साधक मनुष्यों से वार्तालाप करेगा तब उसका उपयोग अवश्य चंचल होगा। मन की चंचलता से अनेक संकल्प विकल्प उठते हैं, इस लिये वह योगी ध्यान व स्वानुभव करने को असमर्थ होजायगा। इस लिये योगी की मनुष्यों की संगति व उन से वचनालाप का त्याग करना चाहिये। इस कथनसे यह भी समझना चाहिये कि जिन २ कारणों से मन की चंचलता हो, उन २ कारणों का छोड़ना साधक के लिये कार्यकारी है। इसी लिये उस निर्जन एकान्त स्थान में बैठकर ध्यान करना चाहिये। वह स्थान कोई वन, पर्वत, गुफा, उपवन, नसियां, जिन मंदिर आदि होना चाहिये। जहां ध्यान करे वहां स्त्री, नपुंसक, पशु आदि चित्तक्षोभ करने वालों का आना जाना नहीं होना चाहिये। निराकुल स्थान के बिना मन निराकुल नहीं हो सकेगा। यही कारण है जिस से निवृत्ति मार्ग का आलम्बन करने वाले मुनि ऐलक, क्षुल्लक आदि त्यागी पुरुष वन, पर्वतादि में ध्यान करने के लिये जन संसर्ग को त्याग देते हैं। इसी लिये ही परिग्रह का त्याग करते हैं और आरंभ के कार्यों से निवृत्ति कर लेते हैं। जितना अधिक बाहिरी सम्बन्ध जिस जीव के होगा उतना ही अधिक विचार व संकल्प विकल्प उसकी बुद्धिमें झलकेगा। अतएव अभ्यास करने वाले को उचित है कि निर्जन स्थान में ही ठहरकर स्वानुभव का अभ्यास करे, ऐसा ही श्री पूज्यपाद स्वामी ने अपने इष्टोपदेश ग्रंथ में कहा है--

इच्छत्येकांतसंवासं निर्जनं जनितादरः।
निजकार्यवशात्किंचिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतं ॥४०॥

भावार्थ—तत्वज्ञानी एकान्त में ही रहना चाहता है। उसको इसी बात का आदर है कि मनुष्यों की भीड़ उसके पास न होवे व अपने प्रश्नों से आकुलता न उपजावे--तथा प्रयोजन के वश से कुछ कहना भी पड़े तो कह कर शीघ्र ही अन्य बात को भूल जाता है, इतना उस को आत्मप्रेम रहता--

हैं। तात्पर्य यह है कि इसी कारण जनसमुदाय से वार्तालाप करना छोड़ देना चाहिये।

आगे की उत्थानिका--अब यहां शिष्य शंका करता है कि तब क्या मनुष्यों का संगम छोड़ कर तत्त्वज्ञानी को जंगल में रहना चाहिये? इस का समाधान आचार्य करते हैं—

श्लोक–ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासो नात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः ॥ ७३॥

अन्वयार्थ—(अनात्मदर्शिनाम्) जिन्होंने आत्मा के स्वरूप के अनुभव की प्राप्ति नहीं की है उनको (ग्रामः) गांव व (अरण्यम्) वन (इति) इस तरह (द्वेधा) दो तरह के (निवासः) निवास होते हैं, ऐसा विकल्प होता है (तु) परन्तु (दृष्टात्मनां) जिन्होंने आत्मा के स्वरूप का अनुभव कर लिया है उन का (निवासः) रहने का स्थान तो (निश्चलः) निश्चल चित्त की आकुलता रहित (विविक्तात्मा एव) विविक्त अर्थात् रागादि रहित विशुद्ध आत्मा ही होता है।

भावार्थ—यहां पर आचार्य शिष्य को फिर निश्चयमार्ग में जमे रहने की शिक्षा देते हैं कि यद्यपि अभ्यास करने वाला एकांत स्थान में रहता है तथापि उस स्थान को केवल निमित्तमात्र जानता है। निश्चय में वह अपने शुद्ध आत्मा के अनुभव में तिष्ठना ही अपना निवास समझता है। क्योंकि आत्मा में स्थितिरूप चरित्र ही से सुख शांति का लाभ होता तथा कर्मोंकी निर्जरा होती है। जो स्वरूप के अनुभव के आनन्द के भोक्ता हैं व स्वरसास्वादी हैं, उन को अपने स्वस्वरूप के भीतर तिष्ठना ही इष्ट होता है, उसी उद्देश्य से वे योग्यस्थान में ठहरते हैं जहां निराकुलता रहे। ऐसा नहीं है कि ग्राम में रहने से आत्मविचार न होगा व जंगल में रहने से होजायगा। बिना उपादान कारण के केवल निमित्त कुछ नहीं कर सकता है। प्रयोजन कहने का यही है कि तत्त्वज्ञानी को बाहरी अनुकूल निमित्तों को मिलाकर जिस तरह बने, अपने आत्मस्वरूप के अनुभव में लवलीन होने का यत्न करना चाहिये।

आगे की उत्थानिका—आचार्य कहते हैं कि जो आत्मानुभवी हैं उनको अंत में क्या फल होता है व जो आत्मज्ञानी नहीं किन्तु मिथ्यादृष्टी हैं, उनको क्या फल होता है।

श्लोक–देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।
बीजं विदेह निष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥ ७४ ॥

अन्वयार्थ—(अस्मिन् देहे) इस कर्मों के उदय से ग्रहण किये हुए शरीर में (आत्मभावना) आत्मा की भावना करनी कि यह शरीर है सोही मैं हूं। इसके सिवाय अन्य कोई शुद्ध, बुद्ध, वीतराग, अमूर्त्तिक आत्मा मैं हूं, ऐसा न समझना सोही (देहान्तरगते) अन्य जन्म में अन्य देह के भीतर प्राप्त होते रहने का (बीजं) कारण है। इसके विरुद्ध (आत्मनि एव) आत्मा के स्वरूप में ही (आत्मभावना) आत्मपने की भावना करनी, इस तरह कि जो कोई परमात्मा के समान शुद्ध, बुद्ध, अविनाशी एक चैतन्य पदार्थ है सोही मैं हूं, (विदेह निष्पत्ते) देह रहित होकर मुक्ति प्राप्त होने का (बीजं) कारण है।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने बतलाया है कि जो मिथ्यादृष्टि अज्ञानी संयम रहित संसार शरीर भोगों में आसक्त बहिरात्मा है सो अपने पंचेन्द्रिय के भोगों की लोलुपता के कारण जब २ जिस २ शरीर में होता है तब तब ऐसे ही कर्मों का बंध करता है, जिस से दूसरा देह को धारणा पड़े। शरीर का ममत्व ही बार २ शरीर ग्रहण का कारण है, सो ठीक भी है। जो जिस से प्रेम करता है उस को उसी का संगम प्राप्त होता है। *मिथ्यादृष्टी के अनादि, अनंत संसार की परिपाटी चलते रहने का यही बीज है।*

जो सम्यग्दृष्टी ज्ञानी और सम्यक्चारित्रवान् अंतरात्मा होते हैं वे निरंतर अपने स्वरूप को पांचों ही तरह के शरीरों से भिन्न तथा कर्मों के उदय से होने वाले अपने अंदर विकारों से भी जुदा समझते हैं, जिस से उन के दिल में सदा ही ऐसी भावना होती है कि मै केवल एक आत्मा हूं, जिस में किसी भी अन्य आत्मा, पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश और काल तथा उन के किसी भी विशेष गुण की सत्ता नहीं है। मेरा आत्मा-स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र स्वभाव तथा स्वकाल की अपेक्षा गुप्तस्वरूप ही है। इस मेरे

आत्मा के स्वरूप में अन्य सम्पूर्ण मेरे आत्मा से भिन्न पदार्थों का द्रव्य क्षेत्र काल भाव नहीं है। अतीन्द्रिय आनंद व अद्भुत शांति भी मेरी आत्मा में स्वाभाविक रीति से वास करती है, जो सांसारिक सुख से विलक्षण परम निराकुल है। इस तरह स्वस्वरूप में स्वस्वरूप की भावना वीतराग भाव बढ़ाती है और रागादिक भावों को नष्ट करती है, जिस से पूर्वबद्ध कर्म निर्जरते हैं और नवीन कर्मों का आश्रव नहीं होता अथवा अति अल्प होता है, जिसका सतत अभ्यास व ध्यान का अंतिम फल यह होता है कि यह आत्मा मोक्ष हो जाता है, क्योंकि इस का देह से वैराग्य होता है इसी से देह का सम्बन्ध छूट जाता है। जो जिस से उदास हो जाता है वह एक दिन उसकी संगति से बिलकुल अलग हो जाता है, यह नियम ही है। तात्पर्य्य यह है कि संसार के दुःखों से बचने को व सुख शांति के लाभ करने को हमें निरंतर शुद्ध निश्चयनय के द्वारा अपने आत्मा की शुद्धता की भावना करनी चाहिये।

आगे की उत्थानिका—शिष्य प्रश्न करता है कि जब आत्मज्ञान व आत्मा की भावना से दुःखों से यह जीव छूट जाता है, तब इस आत्मज्ञान के लिये किसी गुरु की-तो आवश्यक्ता होनी ही चाहिये। बिना गुरु के आत्मज्ञान कौन बतावे, इस का समाधान आचार्य करते हैं:—

श्लोक—नयत्यात्मानमात्मैव जन्मनिर्वाणमेव च।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥७५॥

अन्वयार्थ—(आत्मा एव) आत्मा ही देह आदि पर पदार्थों में दृढ़ पने से आत्मा की भावना की मिथ्याबुद्धि के वश से (आत्मानम्) अपने आत्मा को (जन्म) संसार में (नयति) ले जाता है अर्थात् जन्म जन्म में भ्रमण कराता है। (च) तथा वही आत्मा अपने आत्मा में ही आत्मापने की बुद्धि की महिमा के वश से अपने को (निर्वाणं एव) निर्वाण में भी ले जाता है अर्थात् कर्मों से छुटा लेता है (तस्मात्) इस कारण से (परमार्थतः) निश्चय से (आत्मनः) आत्मा का (गुरुः) गुरु अर्थात् हितकारी शिक्षक व प्रवर्तक (आत्मा) आत्मा है (अन्यः न अस्ति) दूसरा कोई नहीं है। व्यवहार से यदि कोई अन्य जीव निमित्तमात्र होवे तो होहु।

भावार्थ—यहां शिष्य को अपनी आत्मोन्नति के लिये अपने ही ऊपर भरोसा रखने की दृढ़ता कराने के हेतु से आचार्य कहते हैं कि इस आत्मा का बुरा व भला इस आत्मा के अपने ही हाथ में है दूसरा केवल निमित्त मात्र है। क्योंकि यदि कोई हमें कुमार्ग पर चलने की शिक्षा देवे परन्तु हम उसे ग्रहण न करें, तो हमारा बुरा न होगा। हम यदि उस बुरी बात को मान उस पर चलेंगे तो हमारा बुरा होगा। इसी तरह यदि कोई गुरु हमें बार २ सुशिक्षा देवें परन्तु हम उस शिक्षा को ग्रहण न करें व उस पर न चलें, तो हमारा कुछ भी भला न होगा। हां यदि हम उसे ग्रहण कर उस पर चलेंगे तब ही हमारा कुछ भला होगा। इसलिये निश्चय से यही ठीक है कि हमारा बुरा व भला हमारे ही द्वारा हो सक्ता है। हम यदि अपने आत्मा को शरीररूप व रागी, द्वेषी, मोही आदि नाना पौद्गलिक अवस्थारूप मानेंगे तथा शरीर की इंद्रियों के विषयों में आशक्त होंगे तब हम ही तीव्र कर्म बांध संसार में भ्रमेंगे। और यदि हम अपने स्वरूप को समझ कर अपने आत्मा को सर्व अनात्मरूप पदार्थों से भिन्न परन्तु अपने शुद्ध, ज्ञाता, दृष्टा, आनन्दमय स्वभाव का धारी सिद्धसम मानें तथा अनुभव करेंगे, तब वीतराग-भाव के प्रभाव से अवश्य हम कर्मों की निर्जरा करेंगे तथा संवर भी करेंगे, संवर और निर्जरा ही मोक्ष का हेतु है। इसी शुद्ध आत्मभावना के बल से हम अपने आत्मा को कर्मों से बिलकुल छुड़ाकर उसे मुक्त कर देंगे। इसी हेतु से निश्चय से यही बात ठीक है कि आत्मा का गुरु आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं। अतएव हमें आत्म भरोसा रखकर आचरण करना चाहिये, जिस से हम इस लोक व परलोक में सुख के पात्र हों।

आगे की उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो देह में ही आत्मापने की बुद्धि रखता है, वह मरण निकट आने पर क्या विचार करता है।

श्लोक—दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः।
मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणाद्भृशम् ॥७६॥

अन्वयार्थ—(देहादौ) शरीर आदि पदार्थों में (दृढात्मबुद्धिः) दृढ़ता से आत्मापने की बुद्धि रखने वाला बहिरात्मा (आत्मनः नाशम्)

अपना मरण (च) और (मित्रादिभिः वियोगं) मित्र आदिकों से वियोग को (उत्पश्यन्) देखता हुआ (भृशम्) अतिशय करके (मरणात्) मरण से (बिभेति) डरता है।

भावार्थ—शरीर आदि व राग द्वेषादि भावों में आत्मा है, ऐसा समझनेवाला भिन्न आत्मा की प्रतीति नहीं रखता है। इसी से उसके संसार व पंचेन्द्रियों के विषयों में तीव्र राग होता है। इसी कारण वह उन सब पदार्थों से हित करता है जो शरीर व इन्द्रियों को रोचक मालूम होते हैं। वर्तमान जीवन उसको बहुत ही प्यारा लगता है। इसी से सदा ही जीवित रहना चाहता है और मरने से डरता है कि कहीं मरण हो जायगा, तो यह धन, सम्पदा, स्त्री, पुत्र, मित्रादि छूट जांयगे। इस मरण के भय से बहिरात्मा सदा आकुलित रहता है और नाना प्रकार के अयोग्य उपाय भी करने लगता है, इस लोभ से कि मरण न हो। उसके चित्त में कायरभाव रहता है, वीरता नहीं रहती। जैसे कोई कायर योद्धा युद्ध में जाते हुए शत्रु से भय करता है वैसे ही अज्ञानी बहिरात्मा जीव मरण से भय किया करता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी को मरण से भय नहीं करना चाहिये, क्योंकि मरण से केवल शरीर का बदलाव होता है, आत्मा सदा अविनाशी होने से बना रहता है।

आगे की उत्थानिका—जिस की बुद्धि अपने आत्मा के स्वरूप में ही आत्मापने की है, ऐसा अंतरात्मा मरण के निकट जाने पर क्या मानता है, इस बात को आचार्य बताते हैं :—

श्लोक—आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रांतरग्रहम् ॥७७॥

अन्वयार्थ—(आत्मनि एव) आत्मा के सच्चे स्वरूप में ही (आत्मधीः) आत्मापने की बुद्धि रखने वाला अंतरात्मा (शरीर गतिं) शरीर की अवस्था को अर्थात् मरण को व बाल, युवा, वृद्धादि अवस्था को (आत्मनः अन्यां) आत्मापने से भिन्न (वस्त्रं त्यक्त्वा) वस्त्र को छोड़कर (वस्त्रान्तरग्रहम्) अन्य वस्त्र को ग्रहण के समान (निर्भयं) जिस तरह भय रहित हो उस तरह से (मन्यते) मानता है।

भावार्थ—अंतरात्मा को अपने आत्मा के अविनाशीपने पर पूर्ण विश्वास होता है। वह शरीर को केवल आत्मा के रहने का एक झोंपड़ा मानता है, इस लिये शरीर के बिगाड़ को व मरण को केवल झोंपड़े का बिगाड़ व नष्ट होना मानता है, इस से उसे मरण का कोई भय नहीं होता। जैसे कोई वस्त्र पहने हो और उस वस्त्र को बदल कर दूसरा पहनें तो उस में उसे न तो किसी प्रकार का भय है न शंका है, क्योंकि जिस वस्तु को अपनी मानता है, उसका न तो नाश है न बिगाड़ है। शरीर के उत्पत्ति और विनाश में आत्मा का जन्म और नाश नहीं होता है, इसी बात का अंतरात्मा को पूर्ण निश्चय है। अंतरात्मा को पुद्गल के परिणमन से किसी प्रकार का खेद नहीं होता, वह वस्तु के स्वरूप को विचार कर निश्चिन्त रहता है, अपनी शांति में कोई विघ्न नहीं लाता है।

आगे की उत्थानिका—आचार्य कहते हैं कि इस तरह तत्वज्ञान की बात को वह ही जानता है जिस का व्यवहार कार्यों में अनादर है। जो व्यवहार में आदरवान् है वह इस निश्चयस्वरूप को नहीं समझता है।

श्लोक—व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥७८॥

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई (व्यवहारे) व्यवहार के विकल्परूप लेना, धरना, शरीरादि व पर्यायों व्यापार वणिज आदि में (सुषुप्तः) सोया हुआ है अर्थात् अंतरंग से रागी नहीं है किन्तु विरागी है (सः) वह (आत्म गोचरे) आत्मा के स्वरूप में (जागर्ति) जाग रहा है अर्थात् आत्मा के अनुभव में रुचिवान् है या आत्मा का अनुभव कर रहा है (च) तथा (अस्मिन् व्यवहारे) इस जगत् के व्यवहार में (जागर्ति) जो जाग रहा है अर्थात् भली प्रकार सावधान व तन्मय है वह (आत्मगोचरे) आत्मा के अनुभव में (सुषुप्तः) सोया हुआ है, गाफिल है।

भावार्थ—यहां पर आचार्य कहते हैं कि जो अपने आत्मा के स्वरूप में सावधान है अर्थात जिस को अपने शुद्ध आत्मा के स्वरूप का

तथा अनुभव है, उस का नियम से अपने आत्मस्वरूप के सिवाय अन्य शरीरादि पर द्रव्यों में व उनके लिये भिन्न २ प्रकार के व्यवहार में अनादर, अप्रीति व अनाशक्त भाव होता है। इसी से वह जब स्वात्मानुभव करना चाहता है तब भी बड़ी सुगमता से अपना उपयोग अपने आत्मा के स्वरूप के भीतर जोड़ देता है और जब स्वानुभव नहीं करता है तब भी आत्मरुचिवान् रहता हुआ, शरीर और वचन से आवश्यक व्यवहार को करता हुआ, मन से आशक्त नहीं होता। इसी से यह बात कही गई है कि जो व्यवहार में सोया हुआ है, वह आत्मा के स्वरूप में जागता है तथा जिस का मन व्यवहार में जाग रहा है अर्थात् स्त्री, पुत्र, मित्र, शरीर आदि की चिन्ताओं में उलझा हुआ है, उन्हीं के भीतर आशक्त है, वह नियम से आत्मरुचि से खाली है, इससे वह आत्मा की अपेक्षा में सोया हुआ है अर्थात् आत्मस्वरूप के श्रद्धान, ज्ञान व अनुभव में अत्यंत गाफिल है।

आगे की उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो अपने आत्मा के स्वभाव में जागता है, वह मोक्ष को प्राप्त करता है :—

श्लोक—आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं वहिः।
तयोरन्तरविज्ञानादाभ्यासादच्युतो भवेत् ॥७६॥

अन्वयार्थ—(आत्मानम्) अपने आत्मा के असली स्वरूप को (अन्तरे) अपने भीतर (दृष्ट्वा) देख करके तथा (देहादिकं) शरीर आदि पर वस्तु को (वहिः) अपने आत्मा से बाहर (दृष्ट्वा) देख कर (तयोः) इन दोनों के (अन्तर विज्ञानात्) भेद विज्ञान होने से तथा (अभ्यासात्) उस भेद विज्ञान की भावना का बार २ अभ्यास करने से (अच्युतो) मुक्त (भवेत्) हो जाता है।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने मुक्ति का उपाय बताया है, यह बात ध्यान में सदा ही रखनी चाहिये कि मुक्ति का साधन इस जाति का है कि इसके साधन करने से उसी समय सुख व शांति का लाभ होता है तथा कर्मों की निर्जरा हो जाती है तथा बहुत सी कर्म प्रकृतियों के आश्रव का निरोध होता है। ऐसा सुन्दर साक्षात् सिद्धि देने वाला उपाय यह है कि पहले हम

षट् द्रव्यों के स्वरूप को अच्छी तरह पहिचानें अर्थात् अलग २ जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल का स्वरूप जानें, शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से इनके स्वरूप का मनन करें, तब ही हमें अलग २ स्वभाव मालूम होगा और तब ही और को कुछ का कुछ समझने का भ्रम मिटेगा। उसी समय ही हम इन बातों का मतलब समझेंगे जैसा हम व्यवहार में कह दिया करते हैं कि हम क्षत्री हैं, पंचेन्द्री हैं, रोगी हैं, बलवान् हैं, सेठ हैं, रागी हैं, भयवान् हैं, क्रोधी हैं, शोकाकुल हैं, दुःखी हैं, सुखी हैं। हमारी समझ में आयगा कि यह सब हमारा कहना व्यवहार है, क्योंकि आत्मा का स्वभाव इन नामों के कहलाने योग्य नहीं है। आत्मा तो शुद्ध, ज्ञानदर्शन स्वभावमयी, क्रोधादि विकार व शरीर इंद्रिय आदि पौद्गलिक सम्बंधों से बिलकुल रहित है। उस साथ जो कर्मों का सम्बन्ध है उसी के कारण से शरीर, इन्द्रियें आदि व क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, शोक आदि कषायों के विकारों का झलकाव होता है, ये सब अवस्थाएं पुद्गल की हैं, आत्मा की नहीं हैं। इस तरह पर जब आत्मा की सत्ता स्वतंत्र सर्व अन्य आत्मा व द्रव्यों से निराली मालूम होजाती है व उसका स्वभाव शुद्ध, ज्ञानानन्दमय झलक जाता है, तब दोनों का अर्थात् आत्मा और अनात्मा का भेदविज्ञान हो जाता है। इस भेद विज्ञान के एक दफे होने मात्र से कार्य की सिद्धि नहीं होती, किन्तु उसी की भावना बारं २ करनी चाहिये अर्थात् चिरकाल तक अपने आत्मा के स्वरूप की भिन्नता का अलग विचार करना चाहिये। सामायिक ध्यान आदि के द्वारा निरंतर आत्मा को भिन्न २ विचारना चाहिये इस तरह विचारते २ वीतरागता बढ़ती जाती है। ज्यों २ वीतरागता बढ़ती है त्यों २ अभ्यास अधिक २ करता है, तथा इसी अभ्यास के ही लिये श्रावक व मुनि के आचरणों को पालता है, जिस से मन की निराकुलता बढ़े और यह मन स्वरूप में रमने का अधिक अभ्यास कर सके। इस तरह अभ्यास के बल से चार घातिया कर्मों को नाशकर केवलज्ञानी हो जाता है और परमपद की प्राप्ति कर मुक्त हो जाता है। मुक्ति होने का यह प्रकार है:—

आगे की उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जिस को देह और आत्मा का भेद ज्ञान हो गया है वह योगाभ्यास के आरंभ में जगत् को कैसा देखता है तथा जब योगाभ्यास में निपुण होजाता है तब उसे जगत कैसा दीखता है।

श्लोक—पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत्। -
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात्काष्ठपाषाणरूपवत् ॥८०॥

अन्वयार्थ--(दृष्टात्मतत्त्वस्य) जिस ने आत्मतत्व को निश्चय कर लिया है ऐसे तत्वज्ञानी को (पूर्वं) पहले अर्थात् योगाभ्यास शुरू करने के समय (जगत्) यह जगत् अर्थात् जगत के प्राणी (उन्मत्तवत्) नाना प्रकार बाहरी विकल्पों से भरपूर उन्मत्त की तरह (विभाति) प्रति भासित होते हैं (पश्चात्) पीछे योगाभ्यास के अभ्यास हो जाने पर (स्वभ्यस्तात्मधियः) भले प्रकार आत्मा के स्वरूप की भावना कर लेने वाले के यह जगत् (काष्ठपाषाणरूपवत्) काठ व पत्थर के स्वभाव के समान मालूम होता है। क्योंकि पहला जो तत्वज्ञानी है उसको अपने स्वरूप का अनुभव अत्यन्त निश्चल नहीं है, इस से उसका ध्यान जब जगत पर जाता है तब यह जगत उसको आत्मज्ञानशून्य अशुभ व शुभक्रिया से परिपूर्ण बुरा मालूम होता है। पीछे जब आत्मस्वरूप का अनुभव निश्चलता से हो जाता है, तब जगतसम्बन्धी चिंता नहीं रहती है और तब ही वह जगत के प्राणियों की परवाह नहीं करता है। परम उदासीनभाव में परिणाम न करता हुआ जगत को काष्ठ, पाषाण के समान अपने २ स्वरूप के आधीन देखता है।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने सरागता व वीतरागता का कुछ चित्र सा खींचा है और यह बताया है कि जो आत्मा और अनात्मा का भेद समझ करके श्रद्धायुक्त हो गया है वह आत्मा के अनुभव का अभ्यास शुरू करता है। जब तक चिरकाल अभ्यास नहीं होता तब तक सरागभाव रहता है और उस सराग भाव से वह अपने चारों तरफ जब जगत् के प्राणियों को देखता है तो अपने से मिलान करते हुए अपने को समझदार व उनको नासमझ उन्मत्त के समान मालूम करता है। वह देखता है कि ये जगत के प्राणी कैसे मूर्ख व अज्ञानी होरहे हैं कि इनको अपने आत्मा के स्वरूप की बिलकुल खबर नहीं है। उपदेश सुनने पर भी कुछ नहीं समझते हैं। ये सब प्राणी अशुभ भावों में तथा कुछ शुभ भावों में लीन हो रहे हैं। रात दिन पाप-पुण्य कमा रहे हैं व पूर्व कमाई का सुख दुःख भोग रहे हैं। जगत का प्रेम उसके दिल में जगता है, जिस से जगत के हित की चिंता करता हुआ

अनेक विकल्पों में फंस जाता है। जब तत्त्वज्ञानी को आत्मानुभव का बहुत काल अभ्यास हो जाता है तब उसके भावों में वीतरागता बढ़ जाती है, उदासीनता छा जाती है जिस से वह अपने बाहरी जगत से भी उदास हो जाता है, तब वह वस्तुस्वरूप के मनन की कला में अति चतुराई पा लेता है तब जगत के प्राणियों से कोई प्रकार का राग द्वेष नहीं करता है। आपको अपने उनको उनके स्वरूप में देखता है। तब जैसे काठ का टुकड़ा व पाषाण का टुकड़ा जड़स्वरूप उदासीन मालूम होता है उसी तरह सम्पूर्ण चेतन पदार्थ अचेतन उदासीन मालूम होते हैं। उन पर रागद्वेष नहीं करता है। वस्तु स्वरूप को विचारते २ जब समताभाव होजाता है तब साम्यभाव व शांतता का ही दृश्य हर जगह मालूम होता है। यही स्वात्मानुभव की महिमा है।

आगे की उत्थानिका—यहां शिष्य शंका करता है कि आपने जो कहा कि भले प्रकार जिसको आत्मा का अभ्यास होगया है इत्यादि सो यह बात व्यर्थ मालूम होती है। क्योंकि शरीर से आत्मा का स्वरूप भिन्न है ऐसा आत्मा के स्वरूप के ज्ञाताओं से सुन कर के अथवा दूसरों को भिन्न आत्मा के स्वरूप का अख्यान करने से ही मुक्ति हो जायगी। अभ्यास करने की कोई जरूरत नहीं है। इस शंका का आचार्य समाधान करते हैं:—

श्लोक-शृण्वन्नप्यन्यतः कामं वदन्नपि कलेवरात्।
नात्मानं भावयेद्भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक् ॥८१॥

अन्वयार्थ—(अन्यतः) गुरु आदि के द्वारा (कामं) अतिशय करके आत्मा का स्वरूप (शृण्वन्नपि) सुनने पर भी तथा (कलेवरात्) मुंह से भिन्न आत्मा का स्वरूप (वदन्नपि) कहने पर भी (यावत्) जब तक (अस्माकं) आत्मा के स्वरूप को (भिन्नं) सर्व पर अनात्माओं से भिन्न (न भावयेत्) न भावना करे (तावत्) तब तक (मोक्षभाक् न) मोक्ष का पात्र नहीं हो सकता।

भावार्थ—आचार्य शिष्य को कहते हैं मोक्ष की सिद्धि के लिये चरित्र की अतिशय आवश्यकता है। बिना आत्मानुभव के अभ्यास के

वीतरागता की वृद्धि नहीं हो सकती है। विना वीतरागता के कर्मों का नाश नहीं हो सकता है। जो खाली किसी बात को जाने व श्रद्धा न करे परन्तु उस का अभ्यास न करे उसके उस कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इस लिए कहा है कि यदि कोई आत्मा अनात्मा के भेद ज्ञान की कथनी खूब सुने व खूब ही दूसरों को कहे अर्थात् आत्मा के स्वरूप का विकल्प ही करता रहे पर निश्चिन्त हो कर अपने आत्मा के स्वरूप का अनुभव न करे अर्थात् कहना सुनना छोड़ कर ज्ञाना उपयोग आत्मा के स्वरूप में न लगावे तो उसे कभी स्वात्मानुभव न होगा, स्वात्मानुभव के विना कभी भी वीतराग भाव न होगा, इस प्रकार जान के शिष्य को उचित है कि सदा ही आत्मा के चिन्तवन, मनन, व अनुभव करने का अभ्यास करे। केवल स्वरूप जान कर के ही संतुष्ट न हो जावे। इस तत्त्वज्ञानी को पहले तो श्रावक फिर मुनि के व्रतों के द्वारा उस समय तक आत्मानुभव का अभ्यास करते जाना चाहिए जब तक केवल ज्ञान न हो जावे। जैसे अशुद्ध सुवर्ण को उस समय तक बराबर तपाते रखते हैं जब तक उस से बिलकुल मैला जुदा न जावे और वह शुद्ध सुवर्ण न हो जावे इसी तरह अशुद्ध आत्मा को आत्मानुभव रूपी ध्यान में तपाना चाहिए और यह काम उस वक्त तक बराबर जारी रखना चाहिए जब तक कि बिलकुल कर्मों से छूट कर शुद्ध न हो जावे।

आगे की उत्थानिका—आत्मा की भावना में जो अभ्यास करने में प्रवर्त्ते उसे क्या करना चाहिए इस का समाधान आचार्य करते हैं:—

श्लोक--तथैव भावयेद्देहाद् व्यावृत्तात्मानमात्मनि।
यथा न पुनरात्मानं देहेस्वप्नेऽपियोजयेत्॥ ८२॥

अन्वयार्थ—(देहात्) इस शरीर से (व्यावृत्त) अलग कर के (आत्मानं) अपने स्वरूप को (आत्मानि) अपने आत्मा के भीतर (तथैव) इस तरह ही (भावयेत्) भावै कि यह आत्मा सर्व पुद्गलादि जड़ पदार्थों से व उन रागादि अवस्थाओं से अलग है ऐसी दृढ़तर भावना करे (यथा पुनः) कि जिस तरह फिर कभी (स्वप्नेऽपि) स्वप्न की अवस्था में भी

(देहे) शरीर के स्वरूप में (आत्मानं) अपने आत्मा को (न योजयेत्) नहीं जोड़े अर्थात् देह को भी कभी आत्मा रूप से न माने ।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने भावना करने की रीति कही है कि एक दफे आत्मा का भिन्न स्वरूप जानके उसकी वार वार भावना करनी चाहिए। जैसे वार वार रटने से कोई पाठ कंठ हो जाता है फिर भी यदि उस का पाठ न किया जाय तो वह ऐसा जम जाता है, कि उसको कभी वह भूलता नहीं है। जैसे किसी बालक का नाम शेरसिंह रक्खा जाय। उस को वार २ कहने से वह नाम उस बालक के लिए तुर्त याद आजाता है. चिरकाल अभ्यास में बड़ी भारी शक्ति है। अनादि काल से जब हम आत्मा के सच्चे स्वरूप को नहीं जान रहे हैं और आत्मा को रागी, द्वेषी, क्रोधी, मानी, स्त्री, पुरुष, नपुंसक, बालक आदि अवस्था रूप ही मान रहे हैं उस का शुद्ध ज्ञाता दृष्टा स्वरूप नहीं जान रहे हैं तब एक दफे आत्मा के वास्तविक स्वरूप के निश्चय हो जाने पर हमारी धारणा पक्की हो जायगी यह नहीं हो सकता इस लिए निश्चय कर लेने के पीछे पुनः पुनः उसका स्वरूप विचारना चाहिए—जिससे बुद्धि स्वरूप के विचार में ऐसी जम जावे कि यदि स्वप्न में भी आत्मा का स्वरूप याद आवे तो वैसा ही याद आवे जैसीकि भावना कर रहा है। आत्मा के स्वरूप के चिरकाल के अभ्यास से ही क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। तब फिर ऐसा श्रद्धान हो जाता है, कि कभी भी नष्ट न हो। दृढ़ता श्रद्धान हो जाने पर भी निश्चल आत्मा में स्थिति प्राप्त होने के लिये अर्थात् यथाख्यात चरित्र के लिये हम को आत्मा के सच्चे स्वरूप की भावना करनी चाहिये—जैसे वृक्ष की वार वार रगड़ खाने से अग्नि पैदा हो होती है वैसी ही आत्मा की वार वार भावना करने से आत्मा का परमात्म स्वरूप प्रगट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि भेदज्ञानी पुरुष को प्रमाद छोड़कर आत्मा के स्वरूप की निरंतर भावना करनी चाहिये।

आगे की उत्थनिका—आगे आचार्य कहते हैं कि परम उदासीन अवस्था में जैसे आप पर के विचार का विकल्प छोड़ना उचित है वैसे व्रतों के पालने का विकल्प भी छोड़ना उचित है।

श्लोक—अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतै र्मोक्षस्तयोर्व्ययः ।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥८३॥

अन्वयार्थ—(अव्रतैः) हिंसादि पांच अव्रतों के द्वारा (अपुण्यम्) पाप बंध होता है तथा (व्रतैः) अहिंसादि पांच व्रतों के विकल्पों में परिणमन न करने से (पुण्यं) पुण्य का बंध होता है। अतएव (तयोः) इन पाप पुण्य कर्मों दोनों का (व्ययः) नाश हो जाना सो (मोक्षः) मोक्ष है। क्योंकि पाप बंध लोहे की बेड़ी और पुण्य बंध सुवर्ण की बेड़ी है तथा मुक्ति दोनों ही बेड़ियों के कटने से होती है (ततः) इसलिये (मोक्षार्थि) जो संसार से मुक्ति चाहता है वह (अव्रतानिइव) अव्रतों के अनुसार अर्थात् जैसे अव्रतों को वैसे (व्रतानिअपि व्रतों को भी (त्यजेत्) छोड़ देवे।

भावार्थ—इस जगत् में आत्मा के कर्मों के बंध के कारण कषायभाव हैं चाहे वे कषाय तीव्र हों, चाहे मन्द। तीव्र कषायों की दशा में ही यह प्राणी अव्रतों को कर लेता है अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पापों में प्रवृत्ति करता है-जिससे पाप कर्मों को बांधता है। क्योंकि तीव्र कषाय के कारण प्राणी के भाव अशुभ संक्लेश परिणाम रूप होते हैं जिससे चारों घातिया कर्मों का बंध होने के सिवाय अघातिया कर्मों के पाप प्रकृतियों का ही बन्ध पड़ता है, जिसका फल अनेक असाताकारी संबधों की प्राप्ति है। मंद कषायों की दशा में यह प्राणी हिंसादि पापों से बचकर जीव दया का परोपकार पालता है, सत्य बोलता है, चोरी नहीं करके न्याय से पैसा कमाता है, अपनी स्त्री में संतोष रखके पर स्त्री व वेश्यादि के प्रसंग से बचता है। परिग्रह में अधिक ममत्व न करके परिग्रह का प्रमाण करता है तथा संतोष धारण करता है—साधु पूर्ण ब्रह्मचर्य तथा पूर्णपने परिग्रह का त्याग करता है, परम संतोष को धारण करता है। इस तरह पांच व्रतों के पालन में कषाय मंद होती है परिणाम विशुद्ध होते हैं।

इस कारण यह जीव पुण्य कर्मों का बंध करता है—यद्यपि घातियां कर्मों की पाप प्रकृतियों का बन्ध हर एक कषाय भाव में प्रायः होता ही है परन्तु मन्द कषाय में उन का अनुभाग कम पड़ता है तथापि अघा तिया कर्मों में शुभ कर्मों को ही बांधता है। अघातियां कर्मों में ही पुण्य पाप

के भेद हैं। संक्लेशभाव से पाप कर्मों का तथा शुभ भावों से पुण्य कर्मों का बन्ध होता है।

इस तरह बन्द होना इस प्राणी के संसार भ्रमण का ही कारण है। अतएव आचार्य कहते है कि मोक्ष अवस्था इन दोनों ही प्रकार के बंधों के छूट जाने से होती है क्योंकि सर्व भावकर्म, द्रव्यकर्म, नो कर्म करके नाश होने ही का नाम मोक्ष है—इसीलिये आचार्य शिक्षा करते हैं यदि हे भाई तू मोक्ष का अर्थी है तो तू उन दोनो ही तरह के विकल्पों को छोड़—अर्थात् अनुभव शुभ भावों से हटकर शुद्धोपयोग का अभ्यास कर क्योंकि इसी वीतराग भाव के प्रताप से आत्मा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है तथा नवीन कर्मों का संवर करता है जिस प्रयोग से एक दिन कर्मों की कांचली छोड़कर मुक्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अन्तरात्मा को जिस तरह बने शुद्धोपयोग की भावना ही करनी चाहिये।

आगे की उत्थानिका—शिष्य प्रश्न करता है कि इन विकल्पों को किस तरह छोड़े इन के त्याग का क्या क्रम है सो आचार्य कहते हैं।

श्लोक—अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेन्तान्यपि सम्प्राप्य परमंपदमात्मनः॥ ८४ ॥

अन्वयार्थ—(अव्रतानि) हिंसा आदि पाच पापों को (परित्यज्य) छोड़ करके (व्रतेषु) व्रतो में (परिनिष्ठितः) तल्लीन होने पश्चात् (आत्मनः) आत्मा के (परमंपदे) उत्कृष्ट वीतरागता लक्षणमई पद को (प्राप्य) प्राप्त करके (तानि अपि) उन व्रतों को भी (त्यजेत्) छोड़े।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करने का क्रम बताया है। कि पहले हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह रूपी पापों को छोड़कर—अशुभोपयोग से बचे तथा शुभोपयोग में चलने के लिये जीव दया, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा परिग्रह त्याग ऐसे पांच व्रतों का अभ्यास करे परन्तु दृष्टि शुद्धोपयोग पर रक्खो। जब शुद्धोपयोग की प्राप्ति होने लगे तब इन व्रतों के विकल्पों को भी छोड़े वास्तव में जब यह सातवें गुणस्थान में पहुंच जाता है। तब स्वयम् निर्विकल्प

हो जाता है । और आठवें में पहुंचते ही तो बिल्कुल विकल्प रहित हो जाता है। इस तरह जब क्षीणकषाय नाम बारहवें गुण स्थान में पहुंच जाता है तब एकत्ववितर्कविचार ध्यान में जम जाता है जिस के प्रभाव से घातियां कर्मों का नाश कर केवल ज्ञानी हो जाता है।

यहां पर यह तात्पर्य है कि मुख्य आत्माका हित स्वानुभव ही है स्वानुभवदशा में व्रत व अव्रत का कोई विकल्प नहीं होता है। यह स्वानुभव चौथे गुणस्थान से शुरू हो जाता है। जब जब यह दशा होती है तब तब व्रत अव्रत विकल्प होता, फिर जब यह दशा छूटती है तब धर्मात्माओं के व्रतों का विकल्प होता है अव्रतों का विकल्प नहीं होता है ज्यों २ स्वानुभव बढ़ता जाता है त्यों २ व्रतों का विकल्प भी मिटता जाता है। जब स्वानुभव स्थिर हो जाता है तब व्रत विकल्प बिलकुल नहीं रहता। जब तक शुद्ध भाव पूर्ण न हो तब तक व्रतों का आश्रय आवश्यक होता है। उस की पूर्णता होने पर फिर व्रतों का पक्ष नहीं रहता। इस कहने का यह भी भाव है कि मोक्ष के इच्छुक आत्मार्थी को पाप पुण्य दोनों को त्यागने योग्य समझना चाहिए और शुद्धोपयोग में चित्त को लगाना चाहिए।

आगे की उत्थानिका—शिष्य कहता है कि अव्रत व व्रतों के विकल्पों को छोड़ने से किस तरह परम पदकी प्राप्ति होगी। इसका समाधान आचार्य करते हैं:—

श्लोक-यदन्तर्जल्पसंपृक्त मुत्प्रेक्षा जालमात्मनः।
मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम् ॥ ८५ ॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (अतर्जल्पसंपृक्तं) अन्तरंग में वचनों के के व्यापार सहित (उत्प्रेक्षा जालं) कल्पनाओं की तरंगों का जाल है सो (आत्मनः) आत्मा के (दुःखस्य) दुःखों का मूल कारण है क्यों विकल्पों के कारण निर्विकल्प अवस्था न होने से सुख शांति का लाभ न होकर प्रत्युत आकुलता और अशांति होती है (तन्नाशे) उस विकल्पजाल के नष्ट हो जाने पर (इष्टं) अपने को परम हितकारी जो प्यारा (परं पदम्) उत्कृष्ट पद है सो (शिष्टं) गया है।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि जब उपयोग अन्य सब विकल्प जालों से रहित हो अपने शुद्ध जालों से रहित हो अपने शुद्ध ज्ञानानंद मई स्वभाव में स्थिर होता है ऐसा कि जहां पर न कुछ सोचना है, न कुछ कहना है और न कुछ करना है उसी समय ही यह उपयोग अपने आत्माके गुणोंका विलास करता तब ही परम सुख शांति का उपभोग होता है। तथा परम साम्यता, रागद्वेषादि कषायों का उपशमरूप वीतराग भाव जगता है। उसी समय यह अवस्था हो जाती है जो सिद्धावस्था का नमूना है इस तरह ज्यों ज्यों अभ्यास बढ़ता जाता है बाहर भीतर के वचन विकल्प छूटते जाते हैं और स्वरूप की थिरता बढ़ती जाती है इसी तरह स्वात्माधीन आनन्द को भोगते भोगते यह जीव उन्नति करते करते परमात्मा के परम पद को प्राप्त कर लेता है। इसी मे कहा है कि सर्व विकल्प जालोंका त्याग करना चाहिए क्योंकि एक तो इनके होने से आकुलता होती है दूसरे वीतरागता न होने से कर्मों का बन्ध होता है। जो संसार के भ्रमण का कारण है। तात्पर्य यही है कि कि जिस तरह बने स्वानुभूति का उपाय करना ही लाभकारी है।

आगे की उत्थानिका—इस विकल्पजाल का नाश करने वाला इन विकल्पों को इस क्रम से नाश करे सो कहते हैं:—

श्लोक-अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः।
परात्ज्ञानसम्पन्नः स्वमेव परो भवेत् ॥ ८६ ॥

अन्वयार्थ—(अव्रती) हिंसा आदि पांच अव्रतों के विकल्पों में पड़ा हुआ (व्रतम्) अहिंसा आदि पांच व्रतों को (आदाय) ग्रहण कर अविरतों के विकल्पों को नाश करे फिर (वृती) वृती पुरुष (ज्ञानपरायणः) आत्म ज्ञान के अनुभव में लीन होकर ज्ञान भावना में परिणमन करने वाला होकर परम वीतराग अवस्था में व्रतों के विकल्पों को भी नाश करे फिर (परात्मज्ञानसम्पन्नः) सयोगी जिनकी अवस्था में उत्कृष्ट आत्मज्ञान अर्थात् केवल ज्ञान में परिणमन करता हुआ (स्वयमेव) स्वयं ही बिना अन्य किसी गुरु आदि की अपेक्षा के (परः) उत्कृष्ट परमात्मा सिद्ध (भवेत्) हो जावे।

भावार्थ--आचार्य ने यहां पर यह दिखलाया है कि विकल्पों की ा में आत्मा का सच्चा हित नहीं होता। इसलिये आत्मोन्नति का क्रम है कि पहले आत्मा अनात्मा के स्वरूप का सच्चा श्रद्धान करके अव्रतों का त्याग करे। अर्थात् हिंसादि पांच पापों में अपनी भावना को हटा करके अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग ऐसे पांच व्रतों की भावना का अभ्यास करे। इस अभ्यास से कषायों की कालिमा धीरे धीरे मिटती जाती है। क्योंकि व्रतों की भावना में भी विकल्प है, आत्मा को निर्विकल्प अवस्था नहीं प्राप्त होती है इससे व्रतों के पालने की दशा में नित्य विकल्प रहित समाधि में स्थिर होने का प्रयत्न किया जाता है। इस तरह प्रमत्त से अप्रमत्त, अप्रमत्त से प्रमत्त गुणस्थानी होता हुआ जब श्रेणी के आठवें, नवें, दसवें, ग्यारवें व बारहवें गुणस्थान में होता है, तब बुद्धि पूर्वक अपने सर्व विकल्पों को दूर करके निर्विकल्प ध्यान लीन आत्मानुभवी हो जाता है। इस दशा में व्रतों के पालने के विकल्प नहीं रहते। फिर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में आत्मज्ञान की एकाग्रता में लवलीन होता हुआ सयोगी जिन तेरहवां गुणस्थानी केवल ज्ञानी हो जाता है। फिर जब स्वयमेव ही अपनी स्थिति के पूर्ण होने पर आयु कर्म खिर जाता है तब आत्मा सर्व पुद्गलों से रहित होकर सिद्ध परमात्मा हो जाता है। जिस सिद्ध अवस्था को ग्रहण योग्य अविरत सम्यग्दर्शन की अवस्था में श्रद्धान कर चुका था, उसी को धीरे धीरे अपनी दृढ़ भावना के प्रताप से प्राप्त कर लेता है। व्रतों को पालते हुए भी ज्ञानी उन व्रतों में उपादेय बुद्धि नहीं रखता है। किन्तु सिद्ध स्वरूप की ही भावना करता है। इसी से व्रत विकल्पों को भी त्यागकर निर्विकल्प क्षोभ रहित आनन्द मई हो जाता है।

आगे की उत्थानिका--आगे कहते हैं कि जैसे व्रतों का विकल्प मोक्ष का कारण नहीं है तैसे बाहरी भेष का विकल्प भी मोक्ष का कारण नहीं है इसलिये भेष का अभिमान भी छोड़ने लायक है।

श्लोक--लिंगं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिंग कृताग्रहाः ॥ ८७॥

अन्वयार्थ—(लिंगं) जटाधारण आदि अन्यमत के भेष व नग्नपना आदि जैन धर्म के भेष (देहाश्रित) शरीर के आश्रय हैं। (देहः) शरीर (एव) ही (आत्मन) आत्मा का (भवः) संसार है (तस्मात्) इस लिए (ये) जो (लिंगकृताग्रहाः) भेष धारने में ही मुक्ति प्राप्ति का पक्ष रखने वाले हैं कि बाहर का भेष ही मोक्ष का कारण है (ते) वे पुरुष (भवात) संसार से (न मुच्यन्ते) नहीं छूटते हैं।

भावार्थ—यहा पर आचार्य ने इस विकल्प को त्याग करता है कि मैं साधु भेषधारी हूं अतएव मैं अवश्य संसार से पार हो जाऊंगा। बाहरी भेष केवल अंतरंग चारित्र का निमित्त कारण है। सो अंतरंग चरित्र वीतराग भाव रूप है इस लिये बाहरी चारित्र भी वीतराग अवस्था का प्रकाश होना चाहिए। कोई प्रकार का राग का कारण भेष न होना चाहिये क्योंकि श्रेष्ठ चारित्र के लिए श्रेष्ठ भेष नग्नपना तथा परिग्रह रहित पना है इस लिए नग्न दिगम्बर भेष धारके अंतरंग चारित्र पालना चहिए अन्तरंग वीतरागता के लिये बाहरी वीतराग नग्न दशा निमित्त कारण है। मोक्ष का कारण तो अन्तरंग स्वात्मानुभव रूप वीतराग चारित्र है। यदि कोई बाहरी भेष बनाले परन्तु भीतर वीतराग भाव व स्वात्मानुभव न जगावे तो उसका बाहरी भेष उसे कभी मोक्ष मार्ग में नहीं ले जा सकता। इस लिए आचार्य ने यह कहा है कि जो ऐसा अहंकार करता है कि मैं मुनि हूं, त्यागी हूं वड़ा मैं मुक्त हो जाऊंगा वह विकल्प सहित होने से स्वानुभव से बाहर है। स्वानुभव में विकल्प रहित दशा होती है वही अभेदया निश्चय रत्नत्रय मई परिणति होती हैं। वही परिणति ही कर्मों की संहारक है। इस लिए श्रद्धावान को यह निश्चय रखना चाहिए कि आत्मा का भाव ही तारक भाव निवारक व सुख कारक है इसलिये इस आत्मभाव की प्राप्ति के लिए जोर २ निमित्त कारण हो उनको मिलाकर उस भावको प्राप्त करना चाहिए जैसे रोटी का पकना अग्नि से होता है परन्तु अग्नि का लाभ तब ही होता है जब कोयला या लकड़ी आदि सामग्री इकट्ठा की जावे। उसी तरह कर्मों की निर्जरा उत्कृष्ठ आत्मध्यान से होती है। यह आत्मध्यान तब ही हो सकता है जब उस के लिये मुनि का नग्न भेष व अन्य व्यवहार चरित्र रूपी बाहरी सामग्री

का सम्बन्ध मिलाया जावे। और जैसे कोई अग्नि जलाने के लिये लकड़ी आदि सामग्री तो इकट्ठा करले पर अग्नि जलाने का उद्योग नहीं करे तो कभी भी रोटी नहीं पक सकती है उसी तरह कोई नग्न भेष तो धारण करले तथा इस भेष के अहंकार में उन्मत्त रहे पर आत्मानुभव व आत्मा-ध्यान का कुछ भी उपाय न करे तो उसका केवल भेष धारण व व्यवहार चारित्र कर्मों की निर्जरा का कारण नहीं हो सकता। इस लिये भेष का विकल्प भी छोड़कर स्वात्मानुभवी होने का उपाय करना चाहिए।

आगे की उत्थानिका—आगे कहते है कि जिन का ऐसा हठ है कि वर्णों में ब्राह्मण वर्ण बड़ा है अतएव वही परम पद के योग्य है ऐसा विकल्प जिनके है वे भी मुक्ति के योग्य नहीं हो सकते।

श्लोक—जातिर्देहाश्रितादृष्टा देह आत्मनः भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्माद्ये ते जातिकृताग्रहाः॥८८॥

अन्वयार्थ—(जातिः) ब्राह्मण, शूद्र, क्षत्री, वैश्य वर्ण (देहाश्रिताः) देह के आश्रय (दृष्टा) देखा गया है और (देहः एव) शरीर ही (आत्मनो भवः) आत्मा का संसार है, (तस्मात्) इस लिये (ये) जो अज्ञानी (जाति कृताग्रहाः) जाति ही मोक्ष का कारण है ऐसा हठ करते हैं (ते) वे (भवात्) इस संसार से (न मुच्यन्ते) नहीं छूटते हैं।

भावार्थ—यहां पर भी यही भाव है कि जिसके दिल में यह विकल्प है कि मैं ब्राह्मण क्षत्री वैश्य उच्च वर्ण का शरीर हूं उसके निर्विकल्प आत्मानुभव रूप समाधिभाव नहीं होसकता जब उपयोग जाति पने के अहंकार से हट कर अपने शुद्ध आत्मास्वरूप में तन्मय होता है तब ही निश्चय रत्नत्रय रूप भाव होता है जिसके बल से कर्मों की निर्जरा हो और आत्मा मोक्ष के सन्मुख चल सके। उच्च जाति होना यह व्यवहार नय से चारित्र के लिए मोक्ष मार्ग कहा गया है निश्चय नय से नहीं। जिसका भाव यह है कि दिगम्बर मुनि हुए बिना ऊंचा मोक्ष का साधक नहीं होसकता है। और दिगम्बर मुनि आचार शास्त्रों के अनुसार नहीं होसकता है जिस को व्यवहार में ऊंच वर्णी माना गया है अर्थात जो ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य वर्ण की

संज्ञा में लोक में माना जाता है क्योंकि ऐसा ऊंचा आत्माभाव उसी के होना संभव है कि जिस के भीतर दीनवृत्ति नहीं है जो शूद्रों के पाई जाती है। इस लिये उच्च वर्णों को मुनि की दीक्षा दी जाती है। मुनि की दीक्षा लेना यह व्यवहार चारित्र है जिसकी आवश्यकता इसके पहले श्लोक में कही जा चुकी है। जो कोई व्यवहार चारित्र को ही धार कर मैं मुक्त हो जाऊंगा ऐसा अभिप्राय रखता है उसका इस श्लोक में निषेध है कि वह केवल व्यवहार के विकल्प से मोक्ष के योग्य स्वात्मध्यान नहीं कर सकता है। उसको यह जातिपने का विकल्प भी छोड़ कर निर्मल आत्मानुभव की भावना में लीन होना होगा तब ही वह मोक्ष का पात्र हो सकता है। तात्पर्य है कि इसी लिये निरंतर स्वरूप की भावना करनी चाहिये।

आगे की उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो ऐसा विकल्प करता है और कहता है कि ब्राह्मणादि जाति का धारी साधु भेष का धारी ही अर्थात् निर्वाण के लायक दीक्षा नग्न आदि भेष हैं उन को मुक्ति नहीं हो सकती।

श्लोक—जाति लिंग विकल्पेन येषां च समयाग्रहः ॥
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥८९ ॥

अन्वयार्थ—(जाति लिंग विकल्पेन) जाति और भेष के विकल्प से ही मोक्ष होती है (येषां) जिनका ऐसा (समयाग्रहः) आगमसम्बन्धी आग्रह है अर्थात् उत्तम जाति विशिष्ट व साधु भेष धारी ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है ऐसा आगम में कहा है इसलिये इतने होने मात्र से ही मुक्ति हो जायगी ऐसा जिनका आगम सम्बन्धी हठ है (तेऽपि) वे भी (आत्मनः) आत्मा के (परमं पदम्) उत्कृष्ट पद को (न प्राप्नुवन्त्येव) नहीं ही हो पाते हैं।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने शिष्य के इस अहंकार को छुड़ाया है कि उस के मन में ऐसा विकल्प हो कि मैं उत्तम जाति धारी व साधुलिंग धारी हूं इस में अवश्य मुक्त हो जाऊंगा ऐसा आगम में कहा है। यद्यपि व्यवहार नय से उत्तम वर्ण मुनि भेष को मुक्ति का कारण कहा है परन्तु ये दोनों केवल बाहरी निमित्त हैं ये स्वयं मुक्ति के कारण नहीं। इन के

होते हुए जो सर्व पर वस्तु के महत्व से रहित आत्मा की आत्मा की अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिति होना वह ही मोक्ष का मार्ग है क्योंकि वहां पर अभेद या निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति होती है उत्कृष्ट पद परम पवित्र आत्मा का स्वभाव है इसलिए उसका साधन भी वह निर्मल भाव है जो सर्व पदार्थों के ममत्त्व व किसी प्रकार के अहंकार व ममकार से रहित है। मैं मुनि हूं, त्यागी हूं, ऊंचा हूं, पूज्यनीय हूं, ऐसा भी जहां अहंकार है वहां मानभाव होने से शुद्ध स्वरूप में रमन नहीं होता, इसीलिये कहा है कि सर्व विकल्पों को त्याग कर निर्विकल्प होकर शुद्धात्म स्वभाव में कल्लोल करना ही मोक्ष का साधक है।

आगे की उत्थानिका—परम पद की प्राप्ति के लिये उत्तम जाति आदि सहित शरीर में निर्ममत्त्व सिद्ध करने के लिये भोगों को छोड़ा जाता है जो कोई इन इन्द्रिय के भोगों को छोड़कर भी फिर भी मोह के आधीन होकर शरीर में ही प्रीति करते हैं उन के लिये आचार्य कहते हैं।

श्लोक—यत्त्यागाय निवर्तन्ते भोगेभ्यो यदवाप्तये।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिनः॥ ९०॥

अन्वयार्थ—(यत् त्यागाय) जिस शरीर के ममत्व के त्याग के लिये तथा (यत् अवाप्तये) जिस परम वीतराग स्वरूप के लाभ के लिये (भोगेभ्यः) इन्द्रियों के भोगों से (निवर्तन्ते) हटते हैं (मोहिनः) मोही जीव (तत्रैव) उसी ही शरीर में (प्रीतिं) राग तथा (अन्यत्र) दूसरे अर्थात् वीतरागभाव में (द्वेषं) द्वेष (कुर्वन्ति) किया करते हैं—

भावार्थ—यह बड़े भारी तीव्र मोह का माहात्म्य है जिससे कि संसारी प्राणी एक दफे शरीर से ममता हटाने व वीतरागभाव प्राप्त करने के लिये इन्द्रिय विषय भोगों को त्याग देते हैं फिर भी मोह के उपज आने पर उसी शरीर में ही प्रीति करते हैं तथा वीतरागभाव से अरुचि बांध लेते हैं। यहां तात्पर्य कहने का यह है कि परिग्रह व आरम्भ का त्याग कर मुनि की दीक्षा इसलिये धारण की जाती है कि निराकुल होकर वीतरागभाव के

साधन के लिये अभ्यास किया जाय और पुनः पुनः आत्मानुभव का लाभ किया। जिस आत्मानुभव का कारण शरीर आदि पर-पदार्थों से भेद ज्ञान होना है। भेद ज्ञान के अर्थ ही यह हैं कि अपने स्वरूप को उपादेय और परकोहेय जान के अपने स्वरूप को ग्रहण कर लेना और पर-को त्याग देना। यदि कोई मुनि की दीक्षा धारण करके भी फिर भी शरीर से, शरीर के भेष से शरीर की जाति से ममत्व करके मोह करे और उन्हीं का अहंकार करे तो फिर उस की अवश्य वीतराग शुद्ध आत्मस्वरूप से अरुचि हो जाती है। इस में कारण उस के मिथ्यात्व व राग का ही उदय है। आचार्य का उपदेश यह है कि शरीर व जाति व भेष का अभिमान छोड़कर उसे केवल निमित्त मात्र जानकर सिवाय अपने आत्मस्वरूप के और किसी अन्यभाव से राग न करना चाहिये। अभेद रत्नत्रय स्वरूप आत्मा के एक शुद्धभाव को ही मुक्ति का कारण जानकर के उसी का अनुभव करना चाहिये।

आगे की उत्थानिका—मोही जीव शरीर में किस प्रकार का श्रद्धान रखते हैं उसी को बतलाते हैं।

श्लोक—अनन्तरज्ञः संधत्तेदृष्टिं पङ्गोर्यथाऽन्धके ।
संयोगात् दृष्टिमङ्गेऽपि सन्धत्ते तद्वदात्मनः ॥६१॥

अन्वयार्थ—(अनन्तरज्ञः) भेद को न जानने वाला पुरुष (यथा) जैसे (पङ्गोः दृष्टिं) पंगु की दृष्टि को (अन्ध के) अन्धे पुरुष में (संयोगात्) पंगु और अन्धे के संयोग के कारण (सन्धत्ते) मान लेता है (तद्वत्) उसी ही तरह बहिरात्मा मोही अज्ञानी जीव (आत्मनः) आत्मा की (दृष्टिं) दृष्टि को अर्थात् आत्मा के ज्ञान दर्शन स्वरूप की (संयोगात्) आत्मा और शरीर के संयोग के कारण (अङ्गेऽपि) शरीर में भी (सन्धत्ते) मान लेता है।

भावार्थ—जैसे कोई अन्धा पग रहित पंगु मनुष्य को कांधे पर रक्खे हुए जाता हो, उसे एक मूर्ख मनुष्य जिसको यह पता नहीं मालूम होता कि ये दो मनुष्य हैं कि और अन्धे के हैं आंख पंगु की है देखकर यह समझता

है कि ये आंखे उस आदमी के हैं जिसके पैर हैं अर्थात् वह अन्धे पुरुष में ही आंखों की आरोप कर लेता है उसी तरह वह मूर्ख बहिरात्मा जीव जिस को आत्मा और पुद्गल का भिन्न २ स्वभाव नहीं मालूम है, पुद्गल में ही आत्मा का ज्ञान दर्शन स्वरूप मान लेता है क्योंकि आत्मा और पुद्गल का ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध हो रहा है कि देखने जानने का काम भी पुद्गल द्वारा होता हुआ दीख रहा है। परन्तु यह अज्ञान है, जैसे अंधे का पंगु को लेकर चलना होने पर भी पैर अंधे के हैं पर आंख पंगु की काम करती हैं। पंगु अपनी आंख से देखकर जिधर इशारा करता है उधर अंधा पग उठाकर चलता है। वैसे जीव और देह एक मेक होने पर भी जानने देखने का काम जीव ही करता है क्योंकि वह ज्ञान स्वरूप है। पुद्गल नहीं करता है। पुद्गल में चेतना नहीं है, जो कुछ भी हलन चलन आदि क्रिया होती हैं उसका कारण पुद्गल है पर ज्ञान का कारण आत्मा है। अज्ञानी जीव को यथार्थ पहिचान नहीं होती इस से आत्मा और अनात्मा को एक रूप मान लिया करता है, भेद ज्ञानी यथार्थ जानता है क्योंकि उस को प्रत्येक द्रव्य के लक्षण, गुण और पर्याय भिन्न २ मालूम होते हैं।

आगे की उत्थानिका—आगे कहते हैं कि अन्तरात्मा क्या समझता है।

श्लोक—दृष्टभेदो यथा दृष्टिं पंगोरन्धे न योजयेत्।
तथा न योजयेद्देहे दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः॥ ९२॥

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (दृष्ट भेदः) पंगु और अंधे को भेद को देखने वाला पुरुष (पंगो दृष्टिं) पंगु की दृष्टि को (अन्धे) अन्धे पुरुष में (न योजयेत्) नहीं लगाता है अर्थात् अन्धे को दृष्टि हीन परंतु पंगे को दृष्टि वाला समझता है (तथा) तैसे (दृष्टात्मा) आत्मा को शरीरादि पर पदार्थों से भिन्न देखने वाला (आत्मनः दृष्टिं) आत्मा के दर्शन ज्ञान स्वरूप को (देहे) शरीर के भीतर (न योजयेत्) नहीं जोड़ता है।

भावार्थ—आचार्य उसी दृष्टांत को लेकर कहते हैं कि जैसे समझदार प्राणी अंधे के कंधे पर पंगु को चढ़े हुए देखकर यही समझता है कि ये दो पुरुष हैं इनमें जो चलता है वह तो अंधा है परंतु जो कि अंधे के कंधे पर है

वह अंधा नहीं है किन्तु देखने वाला है इसी तरह ज्ञानी पुरुष आत्मा और शरीर के एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध को रखते हुए मनुष्य, पशु, वृक्ष आदि को देखकर यही समझता है कि शरीर तो जड परमाणुओं का समुदाय है यथा जैसा यह स्थूल शरीर जड़ है वैसे सूक्ष्म शरीर जो तैजस और कार्माण है उनको भी परमाणुओं का समुदाय जड़ समझता है यथा कर्मों के उदय से जो रागद्वेष मोह आदि विकार होता है उनको भी आत्मा के सच्चे स्वभाव से भिन्न कर्मों का रस या अनुभाग समझता है तथा ज्ञान दर्शन स्वभाव जड़ का नहीं किन्तु आत्मा का ही है ऐसा दृढ़ विश्वास रखता हुआ जानता मानता व तैसा ही अनुभव करता है। इस तरह ज्ञानी जीव भेद विज्ञान के बल से आत्मा और अनात्मा को अलग २ जानता है और कभी भी एक का स्वभाव दूसरे में नहीं लगाता है।

आगे की उत्थानिका—आगे कहते हैं कि बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि के लिये तथा अंतरात्मा सम्यग्दृष्टि के लिये कौनसी अवस्था भ्रमरूप व कौनसी अवस्था भ्रम रहित है।

श्लोक—सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमोऽनात्म दर्शिनाम्।
विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थाऽऽत्मदर्शिनः॥९३॥

अन्वयार्थ—(अनात्म दर्शिनाम्) यथावत् आत्मस्वरूप का जिनको ज्ञान नहीं है ऐसे बहिरात्माओं को (सुप्तोन्मत्तादि अवस्था एव) सोने की, उन्मत होने की, मूर्च्छा होने की अवस्था ही (विभ्रमः) भ्रमरूप मालूम होती है तथा (आत्मदर्शनः) आत्मदर्शी अंतरात्मा को (अक्षीणदोषस्य) बहिरात्मा सम्बन्धी (सर्वावस्था) सर्व ही अवस्था (विभ्रमः) भ्रमरूप मालूम होती है।

भावार्थ—जिनको यथार्थ आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं है वे लोग अपने अनात्मज्ञपने की अर्थात् आत्मा के सच्चे स्वरूप को न जानने की बात नहीं समझते तब वे जागते तथा काम करते हैं तब तो वे अपनी हालत को अच्छी जानते हैं और जब सोते व मूर्छित होते हैं व नशे में होते हैं तब उस हालत को ही भ्रमरूप व अपनी गफलत की हालत समझते हैं। अंतरात्मा जो सम्यग्दृष्टि जीव हैं वे अज्ञानपने की सर्व अवस्थाओं को भ्रमरूप

जानते हैं। बहिरात्मा यदि मुनि भेष भी धारण करता है तो भी अंतरात्मा उस अवस्थाको आत्मज्ञान रहित होने से सम्यक् नहीं मानता है। आत्मज्ञानी को आत्मज्ञान सहित अवस्था ही ठीक जचती है।

दूसरा अर्थ यह भी इस श्लोकका है कि आत्मदर्शी लोगोंको ऐसा आत्मा का दृढ़ अभ्यास होता है कि सुप्त, उन्मत्त आदि अवस्था भी भ्रमरूप नहीं मालूम होती है अर्थात इन अवस्थाओं में भी आत्मा को भूलते नहीं। सदा ही स्वरूप में सावधान रहते हैं क्योंकि उनको अपने स्वरूप का दृढ़तर अभ्यास होगया है। तथा अक्षीण दोष बहिरात्मा को आत्मदर्शी की सब अवस्थाएं भ्रमरूप मालूम होती हैं।

यहां तात्पर्य यह है कि अंतरात्मा और बहिरात्मा के विचार में बड़ा ही भेद है। अंतरात्मा आत्मस्वरूप में सावधान है इससे इसी अवस्था को ठीक समझता है। बहिरात्मा को आत्मज्ञान नहीं है इससे उसकी सर्व अवस्थाएं भ्रमरूप हैं।

आगे की उत्थानिका—यहा शिष्य शंका करता है कि जो बालवृद्ध युवा आदि सर्व अवस्थाओं में आत्मापना मानता है वह यदि सर्व शास्त्रों को जान जावे और निद्रा रहित जागता रहे तो मुक्त होजायगा कि नहीं ऐसा कहने वाले पर आचार्य समाधान करते हैं।

श्लोक—विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ॥९४॥

(देहात्मदृष्टिः) शरीरादि पर वस्तुओं को आत्मा मानना वाला बहिरात्मा (विदिताशेष शास्त्रः अपि) बहुत से शास्त्रों का जानने वाला है सो भी तथा (जाग्रत अपि) जागता हुआ रहता है तो भी (न मुच्यते) देह और आत्मा के भिन्न२ श्रद्धान के बिना नहीं मुक्त होता है। तथा (ज्ञातात्मा) जिसने आत्मा का स्वरूप अच्छी तरह जाना है वह (सुप्तोन्मत्तोऽपि) सोता हुआ व उन्मत्त हुआ है तो भी (मुच्यते) दृढ़तर आत्मा के अभ्यास के बल से कर्मों से छूटता है। जिसके अंतरंग में आत्मा की श्रद्धा जड़ पकड़ जाती है वह निद्रादि अवस्थाओं में भी

आत्म रुचि से खाली नहीं होता है। इस से कर्मों की निर्जरा करता है।

भावार्थ-आचार्य ने यह समाधान किया है। कि कोई शिष्य ऐसा न समझ ले कि शास्त्र का पाठी तथा शून्य समाधि का अभ्यास करने वाला जीव कर्मों से छूटकर मुक्त हो जायगा। जिस की देह आदि पर पदार्थों में आत्मबुद्धि मौजूद है वह कितना भी श्रुत पढ़ो, कितना भी तप करो, उस का यह सब श्रम कर्मों की निर्जरा का कारण नहीं है। आत्मानुभव के बिना ज्ञान कुज्ञान व्रत कुव्रत तथा तप कुतप कहाता है।

जैसा कि श्री समयसार जी में श्री कुन्द कुन्दाचार्य जी महाराज ने कहा है:—

गाथा—परमट्ठहिन दुअठिदो जो कुणइ तवं वयं च धारई।
तं सव्व बालतवं बालवदं विंति सव्व राहू ॥८॥ ३ ॥

भावार्थ—जो परमार्थ भूत आत्मा के स्वभाव में स्थिर नहीं है वह जो कुछ तप या व्रत करता है सो सर्व बालतप व बालव्रत है ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने कहा है। इसलिये मुख्यता से कर्मों की निर्जरा का कारण आत्मानुभव है। इसी के होने ही से यह आत्मा निर्वाण का भागी हो सक्ता है। आत्मानुभव से शून्य पुरुष कैसा भी व्यवहार में सावधान हो परंतु कर्मों से मुक्ति नहीं पासकता—जब कि आत्मानुभव का दृढ़ अभ्यासी सोते हुए भी कर्मों की निर्जरा करता है। इस तरह तात्पर्य यह निकलना चाहिये कि कर्मों के बन्धन से छूटने का उपाय मात्र एक आत्मा का सच्चा श्रद्धान ज्ञान और चारित्र है, निश्चय रत्नत्रय यही मोक्ष का साधक है।

आगे की उत्थानिका-सम्यग्दृष्टि के निद्रित अवस्था में भी क्यों आत्म विचार बना रहता है। इसी का समाधान करते हैं:—

श्लोक—यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥ ९५ ॥

अन्वयार्थ—(यत्रैव) जिस किसी विषय में ही (पुंसः) पुरुष की (आहितबुद्धि) बुद्धि जोड़ दी जाती है (तत्रैव) उसी विषय में ही (श्रद्धा) रुचि (जायते) पैदा हो जाती है (यत्रैव) जिस किसी विषय में ही (श्रद्धा) रुचि (जायते) हो जाती है (तत्रैव) उसी विषय में ही (चित्तं लीयते) मन लय हो जाता है।

भावार्थ—मनुष्य की बुद्धि तर्क वितर्क करते करते सोचते सोचते जिस किसी विषय पर जम जाती है। अर्थात् जिस किसी विषय में बुद्धि को संतोष हो जाता है, उसी का ही श्रद्धान जम जाता है। जब श्रद्धान हो जाता है, तब उस में रुचि बढ़ जाती है। जब रुचि बढ़ जाती है तब मन अपने आप ही उसी पदार्थ में आशक्त हो जाता है। जिस में मन आशक्त हो जाता है उस का विचार निरंतर रहता है, यहां तक कि निद्रा आदि अवस्थाओं में भी रहता है इसी से पहिले कहा है कि ज्ञानी जीव अपने ज्ञान भाव में कभी भी गाफिल नहीं होता। वह सदा ही जागता रहता है आत्म विचार में अपना चित्त कैसे लगे, ऐसी शंका प्रायः हो जाया करती है। उसका समाधान यहां इस प्रकार जानना, कि आत्म ध्यान के लिये आत्मा का श्रद्धान आवश्यक है। जैसे जिस किसी को पान खाने की रुचि होती है मन स्वयम् ही उस विचार में दौड़ जाता है। इसी तरह आत्मा के स्वरूप की यथार्थ रुचि होनी बहुत ज़रूरी है, रुचि होने के लिये बुद्धि से आत्मा और अनात्मा के गुणों का विचार है। जैसे आत्मा का स्वभाव ज्ञान दर्शन मई वीतराग तथा आनन्द मई जो शास्त्रों में कहा है वह यथार्थ है। यह स्वभाव पुद्गल आदि पांच द्रव्यों में नहीं पाया जाता इस तरह लक्षण और स्वभाव के स्वरूप के भेद को विचारते विचारते आत्मा के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। ज्ञान होते ही श्रद्धान हो जाता है, श्रद्धान होते ही ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। तथा श्रद्धान होने ही से मन स्वयं उस पदार्थ पर जमता है, इस तरह आत्मध्यान हो जाता है।

आगे की उत्थानिका—चित्त कहां पर आशक्त नहीं होता, इस प्रश्न का आचार्य समाधान करते हैं:—

श्लोक—यत्रानाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते ।
यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः ॥६६॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस सम्बंध में (पुंसः) मनुष्य की (अनाहितधीः) बुद्धि नहीं जमती है (तस्मात्) उस से (श्रद्धा) रुचि (निवर्तते) हट जाती है (यस्मात्) जिससे (श्रद्धा) रुचि (निवर्तते) हट जाती है, तब फिर (कुतः) किस तरह से (चित्तस्य) चित्त की (तत् लयः) उस में लीनता हो सकती है ? अर्थात् चित्त नहीं लग सकता है.।

भावार्थ—यहां पर आचार्य कहते हैं कि जिस पदार्थ में विचारते २ बुद्धि नहीं जमती है। उस पदार्थ की रुचि नहीं पैदा होती है, जिस में रुचि नहीं जमती है वहां चित्त भी नहीं लगता–वहिरात्मा अज्ञानी जीव की बुद्धि आत्मा के स्वरूप के ज्ञान में नहीं जमती इस से उसको आत्मा के स्वरूप का श्रद्धान भी नहीं होता, इसी से उस का चित्त आत्मा के ध्यान में नहीं लगता ।

आगे की उत्थानिका—जहां चित्त ध्याता का लय होता है, वह ध्येय अपने से भिन्न तथा अभिन्न ऐसे दो प्रकार का होता है। उन में से भिन्न आत्मा को ध्येय मान करके ध्यान में क्या फल होगा, इस को दिखलाते हुए आचार्य कहते हैं।

श्लोक—भिन्नात्मान मुपास्यात्मा परो भवति तादृशाः ।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥६७॥

अन्वयार्थ—(आत्मा) यह आत्मा (भिन्नात्माननम्) अपने से भिन्न अरहंत सिद्ध स्वरूप परमात्मा का (उपास्य) ध्यान करके (तादृशः) उस ही रूप अर्थात् अर्हत् सिद्ध रूप परमा (भवति) हो जाता है ।(यथा) जैसे (भिन्ना वर्तिः) दीप से भिन्न बत्ती (दीपं) दीपक की (उपास्य) उपासना करके (तादृशी) उस ही रूप (भवति) दीपक हो जाती है ।

भावार्थ—यहां आचार्य ने परतत्त्व के ध्यान का फल कहा कहा है। स्वतत्त्व निज आत्मा और परतत्त्व अरहंत सिद्ध परमात्मा हैं। पहले अरहंत

सिद्ध का स्वरूप सिद्ध स्वरूप ध्याया जाता है । इस प्रकार के अभ्यास के बल से भी आत्मानुभव हो जाता है । इस आत्मानुभव का फल कर्मों से छुट कर मुक्ति प्राप्त करनी है । जो कोई आत्मा को शुद्ध ज्ञाता को शुद्ध ज्ञाता दृष्टा रूप ध्याता है वही मुक्त हो जाता है जैसे बत्ती रुई की होती है वह दीपक की जलती हुई बत्ती की संगति करती है । अर्थात् अपने को उस की लौ में जोड़ देती है जिस कारण वह बत्ती स्वयं दीपक हो कर जलने लगती है । तात्पर्य यह है कि निज स्वरूप के लाभ के लिए अरहंत सिद्ध का स्वरूप अपने ध्यान में लेकर उन समान अपना स्वरूप ध्याना चाहिये ।

आगे की उत्थानिका—अब अपने ही आत्मा की उपासना का फल कहते हैं ।

श्लोक—उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा ।
मथित्वाऽऽत्मान न मात्मैव जायतेऽग्निर्यतातरुः॥ ६५

अन्वयार्थ—(अथवा) पहली रीति को छोड़कर रीति यह है कि (आत्मा) वह आत्मा (आत्मानम् एव) आत्मा को ही (उपास्य) ध्याय कर के (परमः) परमात्मा (जायते) हो जाता है । (यथा) जैसे (तरुः) वृक्ष (आत्मानम् एव) अपने को ही (मथित्वा) घर्षण कर के या घिस कर के (आत्मा एव) आप ही (अग्निः) आग रूप (जायते) हो जाता है ।

भावार्थ—आचार्य स्वरूप के लाभ के लाभ के लिए ऊपर एक उपाय बता चुके हैं अब दूसरा उपाय कहते हैं कि जैसे वृक्ष अपने आप ही परस्पर अपनी शाखाओं में रगड़ रगड़ कर आप ही जलकर अग्नि रूप हो जाता है वैसे ही यह आत्मा अपने ही आत्मा के शुद्ध ज्ञानानन्द मई स्वरूप का ध्यान करके आप ही परमात्मा रूप हो जाता है । वास्तव में वृक्ष के काष्ट में अग्नि शक्ति रूप विराजमान है तब ही वह निमित्त मिलने पर प्रगट हो जाती इसी तरह परमात्मापने की सब शक्ति इस आत्मा में विराजमान है । आत्मा जब अपने उपयोग को और

सब तरफ से खींचकर अपने में ही बार बार लीन कर ध्यान करता है आत्मानुभव करता है। तब इस के दीर्घकाल के अभ्यास के बल से कर्मों का आवरण हट जाता है और यह आत्मा अपने स्वभाव को झलका लेता है अर्थात् परमात्मा हो जाता है।

आगे की उत्थानिका—ऊपर के ही भाव का संकोच करके फिर कहते हैं।

श्लोक—इतीदं भावयेन्नित्यमवाचांगोचरं पदम् ॥
स्वत एव तदाप्नोति यतो नावर्तते पुनः ॥ ९९ ॥

अन्वयार्थ—(इति) इस तरह जैसा ऊपर कहा है (इदं) इस भिन्न व अभिन्न रूप आत्मा के स्वभाव को (नित्यम्) नित्य ही (भावयेत) भावना चाहिये तब भावना करने वाला (तत्) उस (अवाचां गोचरं) वचनों से नहीं कहने योग्य किन्तु केवल अनुभव करने योग्य (पदं) पदको अर्थात् परमात्मा के स्वरूप को (स्वतः एव) अपने आप ही (आप्नोति) प्राप्त कर लेता है। (पुनः) और फिर (यतः) उस प्राप्त किए पद से (न आवर्तते) नहीं लौटता है।

भावार्थ—अपने स्वरूप का पूर्ण लाभ तथा बंधन से मुक्ति पाने के लिये आचार्य ने यह उपदेश किया है कि चाहे अरहंत सिद्ध स्वरूप के द्वारा चाहे अपने आत्मा के ही निजतत्त्व द्वारा अपने ही आत्मा के अनुभव का अभ्यास सदा करते रहना चाहिये इस अभ्यास का त्याग उस समय तक न होना चाहिये जब तक अपने सर्व परमात्म स्वरूप को न प्राप्त करले कम से कम जब तक क्षपक श्रेणी पर न चढ़े, तब तक बराबर आत्मा का अनुभव तथा ध्यान करते रहना चाहिये। इसी ध्यान की अग्नि से कर्मों के आवरण गिर जाते हैं और यह आत्मा पहले अरहंत होता है फिर शरीर से छूटकर मुक्त सिद्ध परमानन्द मय हो जाता है। जब इस की शुद्ध अवस्था प्रकाश मान हो जाती है, तब यह फिर उस अवस्था को त्याग कर अशुद्ध नहीं हो सकता। जैसे भुना हुआ चना फिर नहीं उग सकता।

शुद्ध चावल जमीन में बोया नहीं जासकता। शुद्ध सुवर्ण फिर कभी मैला कनक पाषण नहीं हो सक्ता। वैसे ही परमात्मा या सिद्ध या मुक्तात्मा फिर कभी कर्म बद्ध या संसारी आत्मा नहीं हो सकता।

आगे की उत्थानिका-यहां शिष्य कहता है कि आत्मा कोई शरीर से अलग नहीं है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ऐसे चार तत्त्वों से शरीर बना है उसी में आत्मा अन्तर्भूत है। ऐसा चार वाक लोग कहते हैं। तथा सदा ही आत्मा मुक्त है तब सदा ही इस के स्वरूप की प्राप्ति होती है। ऐसा सांख्य लोग कहते हैं ऐसी मान्यता रखने में फिर किसी प्रकार आत्म ध्यान की जरूरत नहीं रह जाती है। इस का क्या समाधान होना चाहिये जिस पर आचार्य शिष्य की शंका का खंडन करते हैं।

श्लोक—अयत्नसाध्यंनिर्वाणं चित्तत्त्वं भूतजं यदि।
अन्यथा योगनस्तस्मान्न दुःखं योगिनां क्वचित्॥१०४

अन्वयार्थ—(यदि) यदि (भूतजं) पृथ्वी, जल, तेरा वायु ऐसे चार भूतों से उत्पन्न होने वाला (चित्तत्त्वं) जीव पना होवे तो (निर्वाणं) मोक्ष (अयत्न साध्यं) यत्न से साधने योग्य नहीं है। क्योंकि जब शरीर छोड़ने के पीछे विशिष्ट अवस्था को रखने वाले आत्मा का ही चार्वाक के मत में अभाव है तब मरण के पीछे आत्मा का रहना ही नहीं है तब निर्वाण कैसे सांख्य मत में तो आत्मा सहज ही स्वभाव से शुद्धात्मतत्त्वरूप है। स्वभावसे आत्मलाभ में है तब वहां भी अयत्न साध्य ही निर्वाण हुआ ध्यानादिक अनुष्ठान करने से साधने योग्य निर्वाण नहीं हुआ जब आत्मा सदा मुक्त है तब सदा ही आत्मस्वरूप का अनुभव कर रहा है। इस से आत्मा के विना किसी उपाय के ही मुक्ति की सिद्धि है। ऐसा सिद्ध हुआ। अथवा ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है कि जिस को योग की सिद्धि ही मौजूद है ऐसा यदि आत्मा का स्वभाव है तब भी निर्वाण यत्न साधन नहीं है और यदि (अन्यथा) ऊपर लिखी तीनों बातों में से कोई बात नहीं है। अर्थात् न आत्मा शरीर रूप ही है चार्वाक की तरह, न आत्मा सदा से शुद्ध ही है सांख्य की तरह और न आत्मा को वर्तमान में बन्धावस्था में शुद्ध स्वरूप का पूर्ण प्रत्यक्ष लाभ ही है अर्थात्

आत्मा यदि वर्तमान में कर्मबंध सहित अशुद्ध है तब (योगतः) स्वरूप का अनुभव स्वरूप व चित्त वृत्ति का निरोध स्वरूप योग के अभ्यास करने से ही निर्वाण की सिद्धि होगी जब ऐसी बात है तब (तस्मात्) इस लिये (योगिनं) योगी साधुओं को (क्वचित्) किसी भी अवस्था में अर्थात् दुर्धर तप का साधन करते हुए व छेदन-भेदन आदि उपसर्ग के होते हुए (दुःखं) कोई दुःख (न) नहीं होता है। क्योंकि आनन्दमई आत्मस्वरूप का अनुभव करते हुए किसी तरह का भी दुःख का अनुभव होना असम्भव है अर्थात् कोई दुःख हो नहीं सकता।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने फिर भी बहुत अच्छी तरह शिष्य का श्रद्धान दृढ़ किया है कि आत्मा एक अविनाशी पदार्थ है जड़ व शरीर से अलग है चार्वाक की तरह पृथ्वी आदि से रचा हुआ नहीं है यद्यपि निश्चय में इस की शक्ति शुद्ध गुण मई परमात्मस्वरूप है तथापि वर्तमान में व्यवहार नय से इस की अशुद्ध पर्याय हो रही है। यदि व्यवहारनय से वर्तमान में भी शुद्ध ही हो तब तो कोई उपदेश ग्रहण शास्त्रपठन, तथा तप ध्यानादि क्रिया करने की कोई जरुरत नहीं है परन्तु ऐसा नहीं है वर्तमान में यह आत्मा शुद्ध स्वरूप में प्रकट नहीं है इसी लिये तत्त्वज्ञान, भेदविज्ञान तथा आत्मा के अनुभव की जरूरत है। बस योगीजन जब आत्मध्यान का अभ्यास करते हैं तब उन को एक अपूर्व अध्यात्मिक आनन्द का लाभ होता है जिस आनन्द के सामने वे कठिन २ तपस्या को व किसी के किये हुए उपसर्ग को कुछ नहीं गिनते हैं। बड़े चाव, भक्ति ,तथा आनन्द से आत्मा का ध्यान करते हैं।

आगे की उत्थनिका—आगे शिष्य शंका करता है कि आत्म का मरण रूप विनाश होते हुए पीछे आत्मा के अभाव की सिद्धि है तब कैसे सदा आत्मा का अस्तित्व माना जाय अर्थात् मोक्ष में कायम रह सकता है ऐसा कहने वाले के प्रति आचार्य कहते हैं।

श्लोक—स्वप्नेदृष्टे विनष्टेऽपि न नाशोऽस्ति यथाऽऽत्मनः
तथा जागरदृष्टेऽपि विपर्यासाविशेषतः ॥ १०१ ॥

अन्वयार्थ—(स्वप्ने) स्वप्न की अवस्था में (यथा) जैसे (दृष्टे) देखने में आने वाले शरीरादि के (विनष्टे) नाश होते हुए (अपि) भी (आत्मनः) आत्मा का (नाशः) अभाव न (न अस्ति) नहीं होता है। (तथा) तैसे ही (जागर दृष्टेऽपि) जाग्रत अवस्था में भी देखे हुए शरीरादि के नाश होते हुए भी आत्मा का नाश नहीं होता (विपर्यासा विशेषतः) क्योंकि विरुद्ध प्रतिभास की समानता है।

भावार्थ—आत्मा सदा अविनाशी ज्ञाता दृष्टा स्वरूप है इस का कभी इसका कभी नाश नहीं हो सकता है। जसे कोई स्वप्न में अपना मरण देखे तो उसका देखना केवल भ्रम रूप है वैसे ही इस जगत में शरीर का नाश देखते हुए भी आत्मा का नाश नहीं हो सकता। जैसे स्वप्ने में उलटा झलकता है वैसे जागते हुए भी उलटा झलकता है। कोई भी भ्रांति रहित चतुर पुरुष शरीर के नाश से अपना नाश नहीं मानता है। न ऐसा पुरुष स्वप्ने अपने नाश को सचा जान सकता है।

वास्तव में वस्तु का स्वरुप ही सत् है। कोई भी असली पदार्थ नाश नहीं होता है। केवल अवस्था का ही फेर बदल होता है। शरीर जब छूटता है तब वह भी जल भुन कर परमाणु आदि अवस्थाओं में होता २ अनेक अवस्थाओं में बदल जाता है। क्योंकि शरीर पुद्गल के परमाणुओं से बना है। आत्मा क्योंकि अखंड है। इस से वह अपनी अखंड हालत में शरीर के छूटने पर प्रगट रहेगा बाल्यावस्था का स्मरण युवावस्था में बना रहता है युवापने का बुढ़ापन में यदि परमाणुओं से बनता व बिगड़ता तो स्मरण बना नहीं रहता। शरीर के छूटने पर जब अखंड आत्मा बना रहेगा तब यह बात सिद्ध है कि मुक्त दशा में भी वह बना रहेगा। अतएव इस बात में कोई शंका की जरूरत नहीं है कि आत्मा एक अविनाशी पदार्थ है और वह मोक्ष होने पर अवश्य कायम रहेगा।

आगे की उत्थानिका—अब यहां शिष्य शंका करता है कि ऐसा जो प्रसिद्ध अनादि आत्मा है उस आत्मा को मुक्ति के कठिन तप करने का कष्ट उठाना व्यर्थ है क्योंकि ज्ञान मात्र की भावना करने से ही मुक्ति की सिद्धि हो जायगी। इस का समाधान आचार्य करते हैं।

श्लोक—अदुःखभाविनंज्ञानं क्षीयते दुःख सन्निधौ ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ॥ १०२॥

अन्वयार्थ—(अदुःखभाविनं) काय कष्टों के बिना सुकुमार भाव से भावना किया हुआ शरीरादि से भिन्न (ज्ञानं) आत्मा का ज्ञान (दुःख सन्निधौ) दुखों के पड़ने पर (क्षीयते) नाश को प्राप्त हो जाता है। (तस्मात्) इस लिए (मुनिः) योगी ध्यानी यति (यथाबलं) अपनी शक्ति को न छिपा कर (दुःखैः) दुःखों के पड़ने पर भी काय क्लेशादि कष्टों के उठाने पर भी (आत्मानं) अपने आत्मा को (भावयेत्) भावे अर्थात् उस की भावना करे।

भावार्थ—आत्मानुभव की दृढ़ भावना के हुए बिना कर्मों का नाश नहीं होसकता। शरीर की सामग्री की अनुकूलताके होने पर आत्मानुभव रूपी ध्यान मजबूत नहीं हो सकता। साधारण ध्यानी पुरुषों की अपेक्षा से यह बात ठीक है। क्योंकि जिनको शरीर को सुखिया रख कर ध्यान करने की ही आदत होती है उन का ध्यान कष्टों के आने पर जमा हुआ नहीं रह सकता। वे भूख, प्यास, गर्मी, शर्दी की जरासी भी बाधा को सहन नहीं कर सकते। उन का मन विषय कषायों के उलझाव में फंसा रहता है। शरीर के स्पर्शन इन्द्रिय के स्वाद में व रसनाइन्द्रिय के स्वाद में उन का मन लीन रहता है जिस से शरीर के व जबान के कष्टों को जरा भी सहन नहीं कर सकते हैं। वे जरा सा भी संकट पड़ने पर घबड़ा जाते हैं। और ध्यान से उचट जाते हैं। इसी लिये आचार्य कहते हैं कि ध्यान के अभ्यासी के लिये यह उचित है कि वे अनेक कष्टों को सहने की ऐसी आदत डालें कि कष्टों के पड़ने पर भी ध्यान से चलायमान न हो। जो मुनि परीसह व उपसर्ग सह कर भी ध्यान कर सकता है वही मुनि कर्मों के नाश की योग्यता प्राप्त करता है। अतएव बाहरी छः प्रकार के तपों के द्वारा अंतरंग के मुख्य तप ध्यान का अभ्यास करना चाहिए आत्मध्यान ही सुख का कारण है।

आगे की उत्थानिका—आगे शिष्य शंका करता है कि यदि आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न है तब किस तरह आत्मा के चलते हुए शरीर निपम

से चलने लगता है तथा कैसे आत्मा के ठहने पर शरीर ठहर जाता है इस का समाधान आचार्य करते हैं।

श्लोक—प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेष प्रवर्तितात्।
वायोः शरीर यंत्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु ॥ १०३॥

अन्वयार्थ—(आत्मनः) आत्मा के (इच्छा द्वेष प्रवर्तितात) राग और द्वेप से होने वाले (प्रयत्नात्) उद्योग के कारण (वायुः) हवा शरीर में चलती है (वायोः) वायु के चलने से (शरीर यंत्राणि) शरीर के यंत्र (स्वेषु कर्मसु) अपने २ कार्यों में (वर्तन्ते) लगते हैं।

भावार्थ—आत्मा के पूर्वबद्ध कर्मों का उदय है उसके निमित्त से आत्मा में राग और द्वेप होते जिनसे किसी कामकी इच्छा होती तबही योग शक्ति जो आत्मा में है वह चलती है अर्थात् आत्मा के प्रदेशों का हलन चलन होता है। इस प्रकार की प्रेरणा से शरीर में पवन का संचार होता है पवन की प्रेरणा से हाथ पैर आंख कान मुँह आदि शरीर के अंग उपंग अपने २ कामों में प्रवर्तन करते हैं। जैसे लकड़ी के बनाए हुए सिंह आदि पशु यंत्रों के वश से दूसरे के द्वारा प्रेरणा किये जाने पर चलते हलते व मुंह हिलाते हैं ऐसे शरीर के यंत्र पवन द्वारा चलते जिस पवन को प्रेरणा आपके ही योग और रागद्वेप मई अशुद्ध उपयोग की होती है। इस तरह हमारे ही भाव की प्रेरणानुकूल शरीर व उसके अंग चलते हैं।

आगे की उत्पानिका—मूर्ख इन यंत्रों की क्रिया को अपने आत्मा की क्रिया मानता है तथा विवेकी ऐसा नहीं समझता इसलिये इन दोनोंकी क्रियाओं का वर्णन आगे करते हैं:—

श्लोकः—तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्ते सुखं जड़ः।
त्यक्त्वाऽऽरोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम् ॥१०४॥

अन्वयार्थ—(जड़ः) मूर्ख अज्ञानी वहिरात्मा (तानि) उन शरीर के यंत्रों को (साक्षाणि) इन्द्रियों को साथ लेकर (आत्मनि समारोप्य)

आत्मामें आरोपण करके अर्थात् उन सब इन्द्रियादि को ही आप आत्मा मान करके (सुखं आस्ते) सुख से व दुःख से रहता है–जीवन बिताता है। (पुनः) तथा (विद्वान्) अंतरात्मा विद्वान् (आरोपं त्यक्त्वा) उस आरोप को छोड़कर, अर्थात् शरीरादि में आत्मापने की मान्यता को त्यागकर तथा सर्व से भिन्न अपने आत्मा के सच्चे स्वभाव का अनुभव करके (परमं पदम्) परम पद जो मोक्ष है उसको (प्राप्नोति) प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—बहिरात्मा जीव को भेद विज्ञान के अभाव से भिन्न आत्मा के स्वभाव का पता नहीं चलता है इससे वह शरीर की क्रियाओं को ही अपनी क्रिया मानलेता है–रात दिन इन्द्रियों के विषयों में फंसा रहता है–उनही की तृप्ति से सुखी व अतृप्ति से दुःखी होजाता है। इसलिये यह अज्ञानी बाहरी पदार्थों में सुखी दुःखी हुआ करता है। जो विद्वान् अंतरात्मा सम्यग्दृष्टि होता है वह शरीर की क्रिया को आत्मा में नहीं जोड़ता है। कर्म बंधन की दशाओं को भी व उनके हर प्रकार के फल को भी अपने स्वरूप से भिन्न जानता है। इसलिये वह अपने आत्मा को ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई अनुभव करता है। इसी अनुभव के द्वारा कर्मों को नाश कर अंतरात्मा परम पद को प्राप्त कर लेता है।

आगे की उत्थानिका—किस प्रकार अंतरात्मा परको छोड़ देता है इसे बताते हुए ग्रंथकर्ता अपने ग्रंथ को संकोच कर उसका फल दिखाते हुए कहते हैं:—

श्लोक—मुक्त्वा परत्र परबुद्धि महं धियं च।
संसार दुःख जननीं जननाद्विमुक्तः॥
ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठ-
स्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितन्त्रम्॥ १०५॥

अन्वयार्थ—(तन्मार्गम्) अतीन्द्रिय सुख के उपाय को बताने वाले (एतद् समाधितन्त्रम्) इस परमात्मस्वरूप के अनुभव में एकाग्रता का व परम वीतरागता का साधक रूप समाधितंत्र शास्त्र को (अधिगम्य) जान करके (परत्र)

पर जो शरीरादि पदार्थ हैं उनमें (परबुद्धि) परमात्मपने की बुद्धि को (च) और (अहंधियं) आत्मपने की बुद्धि को (संसार दुःख जननीं) जो चतुर्गति रूप संसार के दुःखों को पैदा करने वाली है (मुक्त्वा) छोड़कर (परमात्मनिष्ठः) परमात्म स्वरूप में तिष्ठकर अनुभव करने वाला भव्य जीव (जननाद्विमुक्तः) संसार से छूटकर (ज्योतिर्मयं सुखं), ज्ञानमई आनन्दको (उपैति) प्राप्त करलेता है।

भावार्थ—इस समाधि शतक ग्रन्थ में परमानन्द की प्राप्ति का उपाय भले प्रकार बताया है जो इस ग्रन्थ को पढ़कर अच्छी तरह समझ लेगा वह पर में आत्मबुद्धि को छोड़कर अपने स्वरूप में ही आत्मबुद्धि करेगा इस पक्के श्रद्धान को पाकर अपने आत्मा के ध्यान में लीन हुआ प्राणी धीरे २ कर्मों से छूटकर संसार से मुक्त हो अविनाशी ज्ञानमयी परमानंद को प्राप्त कर ले॥ पर में आपा मानने की बुद्धि को ही मिथ्या अज्ञान की बुद्धि कहते हैं यही बुद्धि घोर कर्म बंध कराती है जिस से यह जीव संसार में भ्रमण करता है। जब इस मिथ्या बुद्धि को छोड़ दिया जाता है तब सम्यक् बुद्धि उपजती है सो इस संसारभाव का नाश करती हुई चली जाती है।

तात्पर्य ग्रन्थ का :

श्री पूज्यपाद स्वामी एक बड़े विद्वान् योगी और आचार्य अनुमान विक्रम संवत् ४०१ के होगए हैं इनका दूसरा नाम देवनन्दी भी था। इन्होंने इस ग्रंथ के सिवाय जैनेन्द्र व्याकरण सर्वार्थ सिद्धि इष्टोपदेश आदि कई ग्रन्थों को रचा है। इस ग्रंथ में आचार्य ने आत्मा के कल्याण का उपाय बताया है।

आत्मा एक सत् पदार्थ है, जड़ अजीव पदार्थों से निराला है क्योंकि इसका मुख्य लक्षण ज्ञान गुण सिवाय आत्मा के अन्य पदार्थ में बिल्कुल प्रगट नहीं है! जिसका लक्षण भिन्न होता है वह भिन्न पदार्थ हो जाता है। जगत में यह बात प्रसिद्ध है कि इसका जीव चला गया यह मुर्दा पड़ा हुआ है। सो यह कहावत बिल्कुल ठीक है। जब एक शरीर का स्वामी जीव चला जाता है तब उस शरीर को मृतक कहते हैं—

शरीर के सब अंग उपंग बने रहने पर भी उन में कोई चेतन पना नहीं झलकता है। शरीर परमाणुओं का समुदाय है जो सदा बदलते रहते हैं— नए आते हैं पुराने जाते हैं जबकि आत्मा अखंड है क्योंकि बाल्यावस्था की याद वृद्धावस्था में भी रहती है। किसी किसी को पहले जन्म की अपनी बात भी याद आ जाती है। यह आत्मा सर्वांग में व्यापक है जैसे हवा सर्वांग में व्यापक है—एक किसी स्थान पर कोई ज्ञान होता है उस में राग द्वेष के कारण दुःख व सुख का वेदन सर्व देह के भीतर होता है इसी लिये कि आत्मा सर्वांग में है। जगत के संसारी प्राणी अपने आत्मा का भिन्न स्वरूप नहीं पाते हुए शरीर को ही आत्मा माना करते हैं और निरन्तर यह कल्पना किया करते हैं कि मैं गोरा हूं, काला हूं, मोटा हूं, दुबला हूं, रोगी हूं, निरोगी हूं, जीता हूं, मरता हूं तथा मेरे ये पुत्र, स्त्री, मित्र, मकान गाय, भैंस, कपड़े, गहने आदि हैं। इस के सिवाय जो कुछ आत्मा में विभाव भाव पुद्गल कर्म के उदय के निमित्त से होते हैं उन को भी यह अज्ञानी प्राणी अपने ही भाव मान लेता है जैसे—क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेद तथा मिथ्यात्व—या इन्हीं को राग, द्वेष, मोह भी कह सकते हैं। इन भावों को जो आत्मा के स्वाभाविक भाव नहीं हैं यह अज्ञानी अपनेही भाव समझ लेता है। यदि इनको आत्मा के भाव माना जाय तो इन का अस्तित्व एक सा सदा रहना चाहिए परन्तु ये भाव सब बदलते रहते हैं तथा ये भाव ज्ञान में बाधक हैं। साधक नहीं। तथा ये भाव आकुलता के पैदा करने वाले हैं। इसलिये पानी में लाल रंग के सम्बन्ध से जैसे पानी लाल दिखता है वैसे आत्मा के चेतन मई उपयोग में जब क्रोध मानादि कषाय की कलुषता का रस सम्बन्ध करता है तब उपयोग क्रोध मानादि भाव रूप प्रकट होता है।

अज्ञानी जीव इन्द्रियों के विषयों में ही बार बार उछल कर जाता है क्योंकि उस को इन्द्रियों के विषय भोगों में ही सुख भासता है। यह इन्द्रियों का दास हो जाता है उसे यह नहीं मालूम होता है कि इन्द्रिय सुख से विलक्षण भी कोई सच्चा सुख है जो आत्मा का स्वभाव है। असल में देखा जाय तो इसी मिथ्या श्रद्धा के आधीन होकर यह अज्ञानी जीव देह के सुख में लीन रहता है, देह के उपकारी बन्धु और मित्रों को प्यार

-करता है तथा देह के हानिकारक लोगों व पदार्थों से द्वेष करता है। वह इसी मिथ्या श्रद्धा वश धनादि का खूब संग्रह करता है और मरण से डरता रहता है। इसी तृष्णा के आधीन हो न्याय, अन्याय, कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का कुछ भी विचार नहीं करता है। इस दशा में अज्ञानी आत्मा अनादि काल से पड़ा हुआ है। क्योकि इस जगत् का कोई आरंभ नहीं है। यह जगत् प्रवाह रूप से सदा से चला आ रहा है। बीज वृक्ष की तरह इस आत्मा के रागद्वेष मोह भावों से कर्मों का बंध होता है और कर्मों के बंधन से राग द्वेष मोह होते हैं। यदि यह कभी भी शुद्ध ज्ञानानन्द मई होता तो इस के फिर कर्मों के संयोग का कोई कारण नहीं हो सकता। जैसे कनक पाषाण खान में सदा ऐसा ही मिलता है यह कभी नहीं हो सकता है कि शुद्ध सुवर्ण फिर कनक पाषाण की दशा में चला जाय। आत्मा इसी ऊपर कही हुई मिथ्या बुद्धि से हर एक देह में जो जो इस ने अनादि काल से धारण की हैं पर्याय बुद्धि रहा है। अर्थात् शरीर के ही भीतर उन्मत्त रहा, चारों गतियों में भ्रमण कर यह अपने को देव, मनुष्य पशु, नारकी इत्यादि रूप से ही माना किया कभी भी इसको यह श्रद्धा नहीं हुई कि मैं अनंतानंत ज्ञान शक्ति का धारी अचल स्वभाव का धारी, वीतराग तथा परमानंदी और इन्द्रियों का विषय न होकर केवल अनुभव गोचर हूं। पर पदार्थों को जो अपनाता है सो पर का संयोग पाता रहा है देह को अपना मान ने से ही वार वार देह का लाभ होता है और यह आत्मा संसार में भ्रमण किया करता है। और इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग जन्म, जरा, मरण, रोग, दरिद्रता, आदि अनेक न सहने योग्य संकटों में पड़ जाता है इस अनादि भ्रम बुद्धि को मिटा कर उसे सत्य बुद्धि में लानेका उपाय आचार्य ने इस महान ग्रन्थ में बताया है। आत्मा की तीन दशाएं होती हैं। उन में से पहली बहिरात्मा दशा त्यागने योग्य है, दूसरी अन्तरात्मा दशा धारण करने व तीसरी परमात्मदशा प्राप्त करने के योग्य है।

शरीरादि को आत्मा मानना यही मिथ्या बुद्धि सर्वथा त्यागने योग्य है। आत्मा ही मैं हूं आत्मा सिवाय मैं कुछ भी और नहीं हूं यही अंतरात्म बुद्धि है। इसी बुद्धि के वार वार अभ्यास किये जाने से परमात्म दशा प्राप्त हो जाती है अनादि काल से जो बुद्धि उलटी हो रही है उस को पहले

सुलटाना चाहिए। एक दफे भले प्रकार-आत्मा का सच्चा स्वरूप निश्चय करके उस ही का बार बार अभ्यास करना चाहिये जैसे बार बार अभ्यास करने से कोई पाठ कंठ हो जाता है वैसे बार बार आत्मा का मनन करने से कि मैं स्वयं परमात्मस्वरूप हूं, आत्मापने की सच्ची बुद्धि दृढ़ हो जाती है और पहले की चली आई हुई यह मिथ्याबुद्धि कि मैं संसारी हूं, नर हूं, पशु हूं, गोरा हूं, काला हूं, निर्बल हूं, बलवान हूं, रागी हूं, द्वेषी हूं, इत्यादि बुद्धि नष्ट हो जाती है। एक मुद्दत के पुराने खयाल को मिटाने के वास्ते बहुत बड़ी चेष्टा की आवश्यकता है। परन्तु बार बार का अभ्यास ऐसी चीज है कि इस से कितनी भी पुरानी बात हो मिट जाती है और नई वस्तु पैदा हो जाती है। एक मनुष्य अपनी मातृभाषा हिन्दी रखते हुए यदि किसी बंगाल देश में निरंतर बंगला बोले व किसी इंग्रेजी देश में निरंतर इंग्रेजी बोले तो उस की हिन्दी बोली का अभ्यास बहुत घट जाता है और बंगला तथा इंग्रेजी बोली का अभ्यास दृढ़ हो जाता है। इसी तरह मन की श्रद्धा का हाल है। बार-बार "सोहं" "सोहं" का अभ्यास करते करते अपने आत्मपने की बुद्धि दृढ़ हो जाती है फिर कभी स्वप्ने में भी अपने को शुद्ध आत्मा के सिवाय अन्य रूप नहीं मानता है। इस तरह जब युक्ति बल से चिरकाल अभ्यास करते करते आत्मा की श्रद्धा जम जावे। तब आत्मा का अनुभव तथा उसी के साथ सम्यग्दर्शन तथा स्वरूपाचरण चारित्र के लाभ का उपाय करना चाहिये।

इसके लिये उपाय यह है कि बाहरी अन्याय, अभक्ष्य तथा मिथ्यात्व से रुचि हटाकर अपने भावों में निर्मलता लानी चाहिये—अर्थात् जिस जिस देव, गुरू, धर्म में सचा आत्मलाभ नहीं है उनकी मान्यता न करनी चाहिये तथा जुआ खेलना, शिकार खेलना, चोरी करना, वेश्या सेवन तथा परस्त्री सेवन की रुचि हटा देनी चाहिये इनकी आदतें मिटा देनी चाहिये तथा मद्य (नशा) मांस मधु आदि मोटे २ अभक्ष्यों की रुचि भी मिटाकर शुद्ध भोजन व सदाचार वर्त्तने में भाव रखना चाहिये अपने भावों को स्थिर करने का अभ्यास करना चाहिये अर्थात् निरन्तर थोड़ी देर एकांत में बैठकर अपनी श्रद्धा के अनुसार अपने मनको सर्व तरफ से हटाकर आत्मा के स्वरूप

के विचार में जोड़ना चाहिये। निरन्तर इस बात का अभ्यास वहां तक करते रहना चाहिये जहां तक आत्मा आत्मा में स्थिर न होजाय वर्षों चाहे अभ्यास करना पड़े एक दिन अकस्मात् ऐसा आजायगा जिस समय भीतरी मिथ्या भाव गल जायगा और एक समय में सच्चा आत्मानुभव, सम्यग्दर्शन तथा स्वरूपाचरण चारित्र प्राप्त होजायगा। इस स्वरूप प्राप्ति को गुणस्थानों के कथन में चौथा अविरत सम्यग्दर्शन का गुणस्थान कहते हैं–इस गुणस्थान में सच्ची श्रद्धा आत्मानुभव की होजाती है पर यह भी श्रद्धा थोड़ी देर निर्मल रह सकती है तथा छूट भी सकती है यदि फिरभी अभ्यास न जारी रक्खाजाय। अतएव उचित है कि एक दफे स्वात्मानुभव होजाने पर भी अभ्यास को छोड़ न देना चाहिये निरन्तर आत्म विचार जारी रखना चाहिये तब इस उपाय से चौथी श्रेणी में ही अविरत क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि होजायगा जिस की काल की मर्यादा बहुत अधिक है। इसतरह दीर्घकाल तक रहने वाली श्रद्धा को जमाकर फिर अंतरात्मा तो होगया अब परमात्मा होने का अभ्यास करना चाहिये।

इस के लिये आत्मानुभव, आत्मध्यान व आत्मसमाधि के अभ्यास को बढ़ाना चाहिये क्योंकि बाहरी आकुलताएं अभ्यास में बाधक होती हैं इस लिये उनके घटाने के लिये श्रावक के पंचम गुणस्थान में आकर श्रावक का चारित्र पालना चाहिये और अंतरंग आत्मसमाधि का लाभ करना चाहिये-अंतरंग समाधिभाव पाने के लिये आचार्य ने बहुत तरह से समझाकर मन वचन कायके विकल्प जालों को हटवाया है संसारी जीवों के यह कल्पना रहा करती है यह मेरा शत्रु है यह मेरा मित्र है। इस कल्पना को मिटाने के लिये यह गुरु बताया है कि ऐसा सोचो कि जो कोई मेरी आत्मा को देख ही नहीं सकता वह मेरी आत्मा का शत्रु व मित्र होसकता है? तथा जो ज्ञानी मेरी आत्मा को देख सकता है वह शुद्ध स्वभाव का जानने वाला तथा वीतरागी होकर कैसे मेरी आत्मा का शत्रु या मित्र होसकता है। भाव यही है कि अंतरात्मा ऐसा विचारे कि शत्रुता व मित्रता सब मेरे आत्मा से बाहर जो शरीर बंधनादि है उनसे जगत के लोग करते हैं आत्मा का तो न कोई शत्रु होसकता है न मित्र फिर समाधिभाव लाने के लिये आचार्य ने बताया है कि ऐसा अनुभव करे कि मेरे आत्मा का स्वरूप विकल्प रहित है

तथा केवल अनुभव गोचर है, न दूसरा मुझे कोई आत्मा का स्वभाव वचनों से समझा सकता है न मैं दूसरों को समझा सकता हूं मेरा यह अहंकार करना भी वृथा है, इस विकल्प से भी मुझे छूटना चाहिये इसतरह अंतरंग में जितने प्रकार के विकल्प होते हैं उन विकल्पों को दुःखदायी व कर्मबंधकारक जानकर उन को छोड़ देना चाहिये संक्षेप से सर्व ही मन वचन काय की क्रियाओं से अपने आत्मा के स्वभाव को तथा सर्व ही द्रव्यकर्मों व नोकर्मों से आत्मा को भिन्न अपने उपयोग द्वारा अनुभव करना चाहिये समाधिभाव लाने के लिये आचार्य ने बताया है कि ऐसा अनुभव करो कि जो परमात्मा है सो ही मैं हूं तथा जो मैं हूं सो ही परमात्मा है इसमें मैं ही मेरे द्वारा अनुभव करने योग्य हूं। भेद विज्ञान के अभ्यास से जब रुचि अपने स्वरूप में होजाती है तब अपना ज्ञानोपयोग अपने आपही अपने आपमें लीन होने लगता है। इस तरह श्रद्धा की नीव पर उपयोग की थिरता करके आत्मा की समाधि की चेष्टा करनी चाहिये। इसी चेष्टा को अंतरंग सम्यक्‌चारित्र का अभ्यास कहते हैं।

इस अभ्यास को बढ़ाने के लिये बाहरी आकुलताएं घटाने के लिये पंचम गुणस्थान में जिसका नाम देश व्रत है श्रावक की ११ प्रतिमाओं का अभ्यास करना चाहिये-जिनका अति संक्षेप स्वरूप नीचे लिखे प्रमाण है-

१ दर्शनप्रतिमा—अर्हतदेव, निर्ग्रन्थगुरु, जिनधर्म में व जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, इन सात तत्त्वों में पक्का श्रद्धान तथा आत्मोन्नति व अतीन्द्रिय सुख लाभ की रुचि का होना—

२—नीचे लिखे २५ दोषों को बचाना।

१—जिनधर्म के पदार्थों में शंका करना।

२—भोगाभिलाष से धर्म सेवना।

३—रोगी, शोकी, दरिद्री, दुःखी मनुष्य व पशु से ग्लानि करना।

४—देखादेखी मूढ़ताई से कुधर्म की क्रियाएं करना।

५—सच्चे जिनधर्म से डिगते हुए अपने व दूसरों को स्थिर न करना।

६—धर्मात्माओं से भूल से दोष होजाने पर उनकी निन्दा करना।

७—सच्चे धर्मधारियों से भी गौ वत्स सम प्रीति न करना।

८—सचे धर्म की उन्नति व प्रभाव को न बढ़ाना।

९—१६-जाति, कुल, रूप, बल, विद्या, धन, अधिकार, तथा तप इन आठ बातों का अभिमान करना।

१७-१९-कुदेव, कुगुरु, तथा कुधर्म क्रियाओं को मूढ़ता से अच्छा समझना।

२०-२५-कुदेव, कुगुरु, व कुधर्म तथा इनके सेवने वाले भक्तों की व उनके स्थानों में जाने आने की संगति रखना—

ये ऊपर लिखे २५ दोष सम्यक्त को बिगाड़ सकते हैं। इससे उनसे बचना चाहिये।

३—नीचे लिखे आठ मूल गुण पालना चाहिये।

१—मद्य का त्याग—शराब, गांजा, चरस, भांग, तम्बाकू, अफीम, आदि जितने नशे हैं उन सब को छोड़ देना चाहिये यानी अर्क, शरबत दूध आदि मर्यादा के भीतर के पीना चाहिये जिसमें उनका स्वाद बिगड़ कर जन्तु न पैदा हों। छना हुआ पानी व दूध ४८ मिनट के भीतर तक का व उसीवक्त औटाया हुआ २४ घंटे तक का पिया जासक्ता है पानी को चंदन, लवंग, आदि का चूरा डालने से रूप, रस, गंध, स्पर्श बदलने पर ६ घंटे तक काम में लाया जासक्ता है।

२—मांस का त्याग—मांस को किसी भी तरह न खाना चाहिये और न मांस या चमड़े से छूए हुए घी तेलादि को लेना चाहिये -हरएक खाने योग्य भोजन मर्यादा के भीतर का लेना चाहिये। मांसाहारी व मद्यपानी के हाथों का भोजन न करना चाहिये न उसके बर्तनों में खाना चाहिये—भारतवर्ष की ऋतु के अनुसार भोजन की मर्यादा इस भांति है दाल, भात, खिचड़ी, कढ़ी की ६ घण्टे, पूरी, रोटी व मुलायम पकीहुई चीजों की १ शाम से पहिले दिनभर, लड्डू, बरफी, पेड़ा सुहाल, मठरी आदि अग्नि में खूब पककर कड़े पड़े हुए पदार्थों की २४ घन्टे की, आटा आदि पिसेहुए चून की जाड़े में ७ गर्मी में ५ व वर्षा में ३ दिन की, बनेहुए बूरे की व पानी बिना बनी मिठाई कि जिसमें अन्न भी न हो जाड़े में एक मास, गर्मी में १५ दिन व वर्षा में ७ दिन तथा पानी बिना बनी अन्न की मिठाई की मर्यादा आटे के समान है।

औटाए हुए दूध का मक्खन निकाल कर उसी समय अंतर्मुहूर्त के भीतर ताए हुए घी की मर्यादा उस वक्त तक है जब तक उसका स्वाद न बिगड़े हर एक गृहस्थ को गाय भैंस आदि का स्वयं पालन कर शुद्ध घी, दूध, दही, काम में लाना चाहिये औटाए हुए दूध से बने दही की मर्यादा भी २४ घन्टे की है। हरएक वस्तु की मर्यादा जो यहां कायम की गई है वह इसी भाव से कि उसमें न दीखने वाले कीड़े न पैदा होजावें। क्योंकि इसी कारण से उनमें मांस का दोष आता है। मांसाहार के दोष से बचने के लिये यह दिनमें खाने पीने का यथाशक्ति अभ्यास रखता है–तथा ऐसे फलादि को भी नहीं खाता है जिसमें त्रस जीव पड़गए हों व जो त्रस जीवों की योनि हो जैसे गूलर बड़पीपल, पाकर और अंजीर आदि–

३—मधु या शहद न खाना चाहिये क्योंकि इस में बहुत से जंतुओं को कष्ट पहुंचता है या बहुत काल रहने से बहुत से कीड़े इस में पैदा हो जाते हैं —क्योंकि मक्खियां फूलों से एकत्र करती हैं इस लिये गोभी, कचनार आदि फूलों को भी न खाना चाहिये।

४—अहिंसा अणुव्रत का अभ्यास—

संकल्प या इरादा कर के त्रस जीवों का घात नहीं करता है, इसीलिए शिकार नहीं खेलता है। महीन कागज के चित्र मूर्ति आदि को भी कषाय वश तोड़ता फोड़ता फाड़ता नहीं। मांस व अन्य बकरी आदि का व्यापार नहीं करता है, धर्मादि के नाम से पशुघात नहीं करता है, पाहुनों के खातिर भी पशुओं को नहीं मारता है। जीव दया भाव चित्त में रख कर आरम्भादि कार्यों में लगा हुआ यथा संभव त्रस व थावर की हिंसा बचाता हुआ जीवन बिताता है असि (युद्ध कर्म), मसि (लिखना), कृषि, वाणिज्य, शिल्प, विद्या व रसोई पानी आदि के आरम्भों में होने वाली हिंसा का संकल्पी हिंसा त्याग में त्याग नहीं होता है। इस आरम्भी हिंसा का बिलकुल त्याग आठवीं प्रतिमा या श्रेणी में होता है नीचे यथा शक्ति कम करता है।

५—सत्य अणुव्रत का अभ्यास—दूसरों को ठगने के वास्ते झूठ नहीं बोलना–अहिंसा को ध्यान में रखते हुवे दूसरों को दुःख देनेवाले कड़वे कठोर वचनों को न बोलना–दूसरोंके प्राण चले जांय ऐसे सत्यको भी न बोलना।

६—अचौर्य अणुव्रत का अभ्यास—दूसरे का माल चुराना लूटना दंगा से ले लेना इसमें चोरी और झूठ जूआ खेलना भी गर्भित है इस से दर्शन प्रतिमा वाला सचा या झूठा कैसा भी जूआ नहीं खेलता तास गंजफा सतरंज आदि में भी तीव्र कषाय व समय की दुरुपयोगिता या चोरी समझ कर उनको भी त्याग देता है।

७—परस्त्री त्याग व्रत या ब्रह्मचर्य अणु व्रत का अभ्यास—अपनी विवाहिता स्त्री में संतोष रखना, परस्त्री व वेश्या आदि का सेवन नहीं करना न वेश्या नृत्य देखना न उनके लुभाने वाले गान सुनना न व्यभिचारिणी स्त्रियों से कोई तरह का हँसी मजाक आदि करना न उनके पास उठना बैठना।

८—परिग्रह प्रमाण व्रत या परिग्रह त्याग व्रत का अभ्यास—मूर्छा नाम परिग्रहका है—यह ज्ञानी किसी भी पदार्थ में ममता करना छोड़ देता है। अति तृष्णा को घटा कर प्रयोजन लायक सामग्री रखने का प्रमाण नियम रूप करके अभ्यास करता है।

इस तरह आठ मूल गुणों को दर्शन प्रतिमा वाला पालता है।

तथा आत्मानुभव की सिद्धि के लिए नीचे लिखे छः कर्मों का अभ्यास करता है—

१—श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा भक्ति।

२—श्री परम निर्ग्रंथ गुरुओं की भक्ति

३—शास्त्रों का स्वाध्याय करना।

४—तप या ध्यान के लिए प्रातः व सन्ध्या समय में सामायिक का साधना।

५—मन इन्द्रियों के निरोध के लिये नित्य भोगोपभोग सामग्री का नियम करना व यथाशक्ति जीव दया साधना।

६—आहार, औषधि, विद्या तथा अभयदान पात्रों को भक्ति से व दुःखियों को दया बुद्धि से देना।

इन छः कर्मों का साधन आगे की ७ प्रतिमाओं तक बराबर रहता है जिन में भी सामायिक का अभ्यास बढ़ता जाता है क्योंकि स्वरूप की समाधि का यह मुख्य उपाय है।

२—दूसरी व्रत प्रतिमा:—

दर्शन प्रतिमा में जो निपुण हो जाता है। वह इस प्रतिमा को धारण करता है इस प्रतिमा वाले को १२ व्रत का पालना और समाधि मरण की भावना करनी चाहिए जिनका संक्षेप इस भांति है। १-५-ऊपर कहे हुए अहिंसादि पांच अणुव्रतो को भले प्रकार साधना तथा उन की रक्षा के हेतु हर एक व्रत की पांच पांच भावनाओं का ध्यान करना—यद्यपि निम्न २५ भावनाओं द्वारा वर्तन पूर्ण पने साधुओं के होता है परन्तु एक देश गृहस्थी श्रावक भी पालता है।

१—अहिंसा व्रत की पांच भावनाएं:—

१—वचनों को विचार कर कहना, २ मन में खोटे विचार न लाना ३— जमीन पर देख कर चलना, ४-देख कर रखना उठाना, ५—देखकर भोजन पान करना।

२-सत्यव्रत की पांच भावनायें:—

१-क्रोध का त्याग, २ लोभ का त्याग, ३ भय का त्याग ४ हास्य का त्याग ५ शास्त्र विरुद्ध वचन कहने का त्याग।

३—अचौर्यव्रत की पांच भावनायें:—

१-शूने स्थान में ठहरना, २ दूसरों के छोड़े हुए ऊजड़ स्थान में रहना, ३ जहां कोई मना करें वहां न रहना, ४ भिक्षा या भोजन में शुद्धि रखना, दोषी भोजन न खाना, ५ सधर्मी लोगों से झगड़ा न करना, इस से धर्म की चोरी होती है।

ब्रह्मचर्य व्रत की पांच भावनाएं—

१-स्त्रियों में राग बढ़ाने वाली कथाएं न सुनना न कहना, २-उनके मनोहर अंगों को न देखना, ३-पहले भोगे भोगों को बार बार याद न करना, ४-पुष्ट कामोद्दीपक रस न खाना, ५ अपने शरीर का राग रूप शृङ्गार न करना,

५-परिग्रह त्याग व्रत की पांच भावनाएं:—

मन की अच्छे या बुरे पांचों इन्द्रियों के विषयों के मिलने पर राग द्वेष न करके समता रखना। इन पांच अणुव्रतों के पांच पांच अतीचारों

को भी बचाना चाहिए, व्रत प्रतिमा वाले का मुख्य कर्तव्य अतीचारों का टालना है।

१—अहिंसा अणुव्रत के पांच अतीचारः—

१ कषाय वश होकर लाठी चाबुक आदि से मारना, २ कषाय वश होकर किसी को बांधना व बंधन में डाल देना, ३ कषाय वश हो अंग उपंग छेदना, ४ कषाय वश हो शक्तिसे अधिक बोझा लाद देना, ५ कषाय वश हो किसी का अन्न पान रोक देना।

२—सत्य अणुवृत के पांच अतिचार।

१ मिथ्या बात का उपदेश दे डालना, २ स्त्री पुरुष की एकांत की चेष्टा को प्रकाश करना, ३ झूठा लेख लिखना झूठी गवाही देना, ४ अमानत रकम को झूठ कह कर ले लेना, ५ किसी की सलाह को उस के इशारों से पहचान कर प्रकट कर देना।

३—अचौर्य अणुवृत के पांच अतीचारः—

१ चोरी का उपाय बताना, २ चोरी का माल लेना, ३ विरुद्ध राज्य होने पर मर्यादा का उल्लंघन कर वर्तना, ४ कमती बढ़ती तौल नाप कर देना लेना, ५ खरी में खोटी वस्तु मिलाकर खरी कहकर बेचना व झूठा सिक्का चलाना।

४—ब्रह्मचर्य्य अणुवृत के पांच अतीचारः—

१ अपने कुटुम्बी सिवाय दूसरों के पुत्र पुत्रियों के सम्बन्ध जोड़ना, २ व्यभिचारिणी बिना व्याही स्त्री से हेल मेल हास्यादि करना, ३ व्यभिचारिणी व्याही स्त्री से हेलमेल हास्यादि करना, ४ काम के स्वाभाविक अंग छोड़ अन्य अंगों से कामचेष्टा करना, ५ अपनी स्त्री से भी काम सेवन की तीव्र लालसा रखनी।

५—परिग्रह त्याग अणुवृत के पांच अतीचारः—

दस तरह की परिग्रह के पांच जोड़ होते हैं। हरएक जोड़ में एक को घटाकर दूसरे की मर्यादा बढ़ालेना अतिचार है। खेत, मकान, चांदी, सोना, गाय भैंसादि धन, अनाज, दासी, दास, कपड़े, बर्तन।

व्रत प्रतिमा वाला पांच अणुव्रतों के अतीचारों को बचाता हुआ वर्तन करता है और इन्हीं ५ व्रतों की रक्षा व वृद्धि के लिये नीचे लिखे सात शील पालता है—

तीन गुणव्रत—जो पांच व्रतों को गुणाकार रूप बढ़ाते हैं—

१ दिग्व्रत—लौकिक काम के लिये दशों दिशाओं में जन्मपर्यंत जानेकी दूरी की व वस्तु भेजने मंगाने की मर्यादा बांध देना।

२ देशव्रत—दिग्व्रत की की हुई मर्यादा के भीतर घटाकर एक दिन आदि नियमित काल के लिये दशों दिशाओं की मर्यादा रखना।

३ अनर्थदंड—से मतलब पाप न करना जैसे प्रयोजन बिना पाप का उपदेश देना, दूसरों की बुराई विचारना, हिंसाकारी पदार्थ देना, प्रमाद से व्यवहार करना, तथा खोटी कथाएं सुनना पढ़ना।

४ शिक्षाव्रत—येपांच व्रतों को बढाने के साथ २ मुनिव्रत की शिक्षा भी प्रदान करते हैं—

१ सामायिक—एक दो व तीन समय रोज़ थिरता से एकांत में बैठकर वैराग्यमई पाठ पढ़ जाप व ध्यान करना।

२ प्रोषधोपवास—हरएक प्रोषध अष्टमी व चौदस के दिन उपवास करना, शक्ति न हो तो एक वक्त खाना।

३ भोगोपभोग परिमाण—एक घंटा व एक दिन आदि थोड़े व घने काल के लिये भोग्य और उपभोग्य पदार्थों का नियम करलेना जरूरत से अधिक पंचेन्द्रियों के भोगों को त्याग देना।

४ अतिथि संविभाग—भिक्षा वृत्ति से घूमने वाले धर्मपात्रों को अपने भोजन में से भाग देना व्रती व अव्रती श्रावकों को भक्ति से देना व दया से हरएक को देना—दान चार प्रकार है—आहार, औषधि, विद्या, व अभय (प्राणरक्षा) यह व्रत प्रतिमा वाला इन ७ शीलों को पालता है तथा नीचे लिखे अतीचारों के बचाने का अभ्यास करता है, ज्यों ज्यों आगे दरजों में जाता है अतीचारों को भले प्रकार बचाता जाता है।

१ दिग्व्रत के पाच अतीचारः—

१ ऊपर की हद को प्रमाद से उल्लंघन कर चले जाना, २ नीचे की हद को प्रमाद से लांघकर चले जाना, ३ शेष आठ दिशाओं की हद को प्रमाद से लांघकर चले जाना, ४ कषाय वश एक तरफ की मर्यादा घटाकर दूसरे तरफ की बढ़ा लेना, ५ मर्यादा को याद न रखना, बिना याद चले जाना।

२ देशव्रत के पांच अतीचारः—

१ मर्यादा से बाहर की चीज मंगाना, २ मर्यादा से बाहर भेजना, ३ मर्यादा से बाहर बात करना व शब्द भेजना, ४ मर्यादा से बाहर रूप व चिन्ह दिखाकर काम निकाल लेना, ५ मर्यादा से बाहर कंकड़ पत्थर व पत्रादि भेजकर मतलब साधलेना।

३ अनर्थदंड के पाच अतीचारः—

१ भंडवचन गाली आदि बकना, २ खोटे वचनों के साथ २ काय की कुचेष्टा करनी, ३ बहुत बक बक करना, ४ बिना विचारे मन वचन काय का प्रयोग करना, ५ भोग उपभोग की वस्तुओं को नष्ट करना।

४—सामायिक के पांच अतीचारः—

१ मन में धर्मध्यान के सिवाय अन्य आर्तरौद्र ध्यान को लाना, २ वचनों से लौकिक बात करना, ३ काय को संयम रूप न रखकर प्रमाद में डालदेना ४ प्रेमभाव से सामायिक न करना, ५ सामायिक की विधि व उसके काल को भूल जाना—

५—प्रोषधोपवास के पाच अतीचारः—

१ बिना देखे व बिना झाड़े भूमि पर मल मूत्रादि करदेना, २ बिना देखे व बिना झाड़े वस्तु को उठाना व रखना, ३ बिना देखे व बिना झाड़े भूमि पर चटाई आदि बिछाना, ४ उपवास में आदर भाव न रखना, ५ प्रोषध के दिन धर्मक्रियाओं को व प्रोषध का दिन भूल जाना।

६—भोगोपभोग व्रत के पांच अतीचारः—

१ त्यागेहुए सचित्त भोजन को प्रमाद से खालेना, २ त्यागे हुए सचित्त

बे सम्बन्ध की हुई वस्तु को लेलेना, ३ त्यागे हुए सचित्त से मिले हुए अचित्त को लेलेना, ४ पौष्टिक कामोद्दीपक पदार्थों का लेना, ५ खराब कच्चे पक्के जले भुने पदार्थों को लेना —

७ अतिथिसंविभाग व्रत के पांच अतीचार:—

१ सचित्त पर रखे हुए पदार्थ को मुनि के लिये देना, २ सचित्त से ढके हुए पदार्थ को दान में देना, ३ दान आप न करके दूसरों को दान देने को कहकर आप चले जाना, ४ और दातारों से ईर्षा भाव करके दानदेना, ५ दान का समय टालकर दान देना-देने में बहुत देर लगाना—

यह व्रत प्रतिमावाला नित्य यह भावना करता है कि मेरा मरण समता-भाव सहित धर्मध्यान करते हुए होवे ऐसी भावना को सल्लेषणा व्रत कहते हैं—मरण निकट आते ही कषाय व काय को धीरे २ कृश करता हुआ आत्म-भावना से मरने का साहस करता है—उस समय पांच संभवरूप दोषों को बचाता है।—

१ अधिक जीने की वांछा, २ जल्दी मरने की वांछा, ३ लौकिक मित्रों से प्रीति, ४ पिछले भोगे हुए भोगों के सुख को याद करना, ५ आगामी भोग की लालसा रखकर निदान करना—

दर्शन प्रतिमा के नियमों को इस व्रत प्रतिमा में और जोड़ता हुआ जैसे जैसे बाहरी आकुलता घटाता है वैसे २ देवपूजादि शुभ कर्मों में अधिक लगकर मुख्यता से आत्मध्यान द्वारा समाधि भाव पाने का पुरुषार्थ करता रहता है—इस व्रत प्रतिमा का अभ्यास बढ़जाने पर इन नियमों को न छोड़ता हुआ आगे की प्रतिमाओं में जाता है वहां बाहरी चारित्र के साथ २ अंतरंग चारित्र को भी बढ़ाता है।

३ सामायिक प्रतिमा—तीनों संध्याओं में सवेरे, दोपहर व शाम को नियम से सामायिक करता है। कम से कम दोघड़ी अर्थात् ४८ मिनट लगाता है कभी कुछ कम अंतर्मुहूर्त्त कर सकता है।

४ प्रोषधोपवास प्रतिमा—हर एक अष्टमी चौदस को आरम्भ त्याग १६, १२ व कम से कम ८ पहर का उपवास करता है या १६ पहर आरम्भ त्याग कर निर्जल, या जल सहित या मध्य में एक भुक्त सहित रह धर्म ध्यान करता है।

५ सचित्त त्याग—सचित्त अप्रासुक भोजन पान नहीं करता है। एकेन्द्री जीवों से भी रहित गर्म या प्रासुक पानी पीता व भोजन करता है। एकेन्द्री सचित्त वस्तु सूखने, पकने, गर्म होने व कषायले द्रव्य से मिला देने यंत्र से छिन्न भिन्न करने पर अचित्त या प्राशुक हो जाती है। द्वेन्द्रियादि के कलेवर को मांस कहते हैं वह सूखा भी लेने योग्य नहीं है:—

६ रात्रि भोजन त्याग—रात्रि को नियम से खाद्य, स्वाद्य, लेह्य (चाटने योग्य) और पेय चार तरह के भोजनों को न आप करता है न दूसरों को कराता है। न भोजन सम्बन्धी आरम्भ करता है।

७ ब्रह्मचर्य प्रतिमा—अपनी स्त्री को भी त्याग देता है। ब्रह्मचारी होकर उदासीन वस्त्र पहन उदासीन भाव से घर में रहता है या परोपकारार्थ देशाटन करता है।

८ आरम्भ त्याग प्रतिमा—व्यापार वणिज व रोटी पानीका आरम्भ छोड़ कर जो कुछ घर में या बाहर मिले उसे भोजन कर संतोष रख धर्म साधन करता है सवारी आदि का भी आरंभ त्याग कर देता है।

९ परिग्रह त्याग प्रतिमा—अपनी सब जायदाद दान धर्म में लगा व पुत्रादिकों को सौंप कर कुछ वस्त्र व वर्तन रख लेता है। शेष सर्व छोड़ देता है। बुलाने पर संतोष से भोजन कर लेता है।

१० अनुमति त्याग—संसारिक कार्यों में सम्मति देने व अनुमोदन करने का त्याग कर देता है आहार के समय बुलाए जाने पर भोजन करता है।

११ उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा—इस दरजे में अपने निमित्त किया हुआ भोजन नहीं लेता है। क्षुल्लक पदधारी घर से बाहर मुनि आदि के पास रहता हुआ धर्म साधन करता है। पात्रमें बैठकर भिक्षा वृत्ति से भोजनकरता है।

अपने केशों को कतराता है एक खंड वस्त्र और कोपीन तथा मोरपिच्छका जीव दया के लिये और कमंडल गर्म जल का शौचके लिये रखता है ऐलक केवल लंगोट रखता है, हाथों से बालों का लोच करता है, हाथ में ही भिक्षावृत्ति से बैठकर भोजन करता है मुनि के चारित्र का अभ्यास करता है। यहां तक चढ़ते चढ़ते आत्मध्यान की शक्ति बढ़ती चली जाती है और समाधि का अभ्यास बहुत मजबूत हो जाता है।

जब तीव्र वैराग्य आता है तब लज्जा की रक्षा का हेतु जो लंगोट उसे भी त्याग कर मुनि हो जाता है और नीचे लिखा १३ प्रकार का चारित्र पालता है।

१ अहिंसा महाव्रत—त्रस स्थावर किसी प्राणी की हिंसा नहीं करना।

२ सत्य महाव्रत—किसी भी निमित्त से जरा भी असत्य वचन नहीं बोलना।

अचौर्य महाव्रत–विना दिए पानी वृक्ष फल फूलादि भी नहीं लेना।

४ ब्रह्मचर्य महाव्रत—मन वचन काय से सर्व स्त्री मात्र की इच्छा का व काम के भाव का त्यागना।

५ परिग्रह महाव्रत—क्षेत्र वस्त्र आदि सर्व परिग्रह वाहरी व भीतरी रागद्वेषादि त्याग करना।

६ मनोगुप्ति—मनको आत्माधीन रखना।

७ वचन गुप्ति—वचन बन्द कर मौन रखना धर्म कार्य वश केवल बोलना।

८ काय गुप्ति—शरीर को प्रमाद रहित अपने वश रखना, आसन बैठना, सोना आदि।

९ ईर्यासमिति—चार हाथ जमीन आगे देख कर दिन में रौंदे हुए रस्ते पर जीव दया पालते हुए चलना।

१० भाषासमिति—वचन बहुत कम मीठा शास्त्रानुसार बोलने की सम्हाल रखना।

११ एषणासमिति—निर्दोष आहार भिक्षा से श्रावक द्वारा अपने ही हाथ में दिया हुआ उसी के घर खड़े २ लेना अंतरायों को टालना।

१२ आदान निक्षेपण समिति-शास्त्र व निज शरीर कमंडल व पीछी को देख कर रखना उठाना यह मुनि काठ का कमंडल शौच के लिये गर्म जल के लिये तथा मोर पंख की पीछी जीव दया के लिये व ज्ञान के लिये शास्त्र रखता है।

१३ प्रतिष्ठापना समिति—मल मूत्रादि देख कर निर्जंतु भूमि में करना।

मुनि की दशा में वनादि एकांत स्थान में रहता हुआ समाधि भाव का दृढ़ अभ्यास करता है।

जैसा निर्मल ध्यान इस पद में होता है वैसा श्रावक की ११ प्रतिमाओं में नहीं होता है। इस पद में यह मुनि बहुत ही शांत स्वभावी व बहुत ही कोमल स्वभावी अहंकार व ममकार रहित होता है। मैं मुनि हूं, तपस्वी हूं ज्ञानी हूं-ऐसा मद जरा भी नहीं होता है। बाहरी भेष को मुक्ति का कारण नहीं जानता है। उसे तो केवल निमित्त सहकारी मानता है मुक्ति का कारण अपनी आत्मसमाधि को ही जानता है जिस का निरन्तर अभ्यास करता है। शरीर का सुखिया पना मिटाने को कठिन २ कष्ट व उपसर्ग सहकर भी ध्यान करता है। जब ध्यान में चित्त नहीं लगता है तब वांचना, पूछना, चिन्तवना, घोषना व धर्मोपदेश रूप पांच तरह से स्वाध्याय करता है बड़ा ही परोपकारी होता है। जीव मात्र पर दयावान होता है।

इस मुनि की जब तक अभ्यास दशा रहती है तब तक कभी प्रमत्त कभी अप्रमत्त गुणस्थान में जाता है। जब ध्यान की निर्मलता बढ़ती है तब अपूर्व अनिवृत्ति करण नाम ८ वें ९ वें गुण स्थान में होता हुवा सर्व कषायों को शांत कर या क्षयकर केवल सूक्ष्म लोभ के उदय में सूक्ष्म सांपरायी गुणस्थानी होता है, फिर इसे भी यदि शांत करता है तो ११ वें उपशांत मोह में व यदि क्षय करता है तो १२ वें क्षीण मोह में जाता है कषायों को क्षय करने वाला ११ वें में न जाकर यहीं आता है। इस १२ वें में अन्तर्मुहूर्त ठहर कर ध्यान के बल से ज्ञाना वरणी, दर्शना वरणी, अंतराय कर्मों को भी क्षय करके तेहरवें सयोग केवली गुणस्थान में जाकर परमात्मा हो जाता है—१२ वें तक अन्तरात्मा था, अब अन्तरात्मा परमात्मा की भावना करता करता स्वयं परमात्मा हो जाता है। तब तप के बल से शरीर शुद्ध स्फटिक के समान हो जाता है उस में से हड्डी मांस रुधिर की दशा पलट जाती है, शरीर आकाश में अधर रहता है तब अरहंत पद के भीतर जब तक आयु है तब तक रहना होता है—पर वहां कोई भूख प्यास रोग शोकादि दोष नहीं होते, परमशांत वीतरागी प्रभु सदा ही आत्मलीन रहते हैं। चार अघातिया कर्मों के उदय होने पर स्वतः ही बिना इच्छा के अरहंत का विहार व उपदेश होता है जिससे अनेक जनों को सच्चा मार्ग मिलता है। आयु कर्म शेष होने की दशा में अयोग गुण स्थान होता है तब परमात्मा शरीरादि सर्व पुद्गल सम्बन्ध से रहित हो पुरुषाकार में सीधे ऊपर की ओर अग्नि की लौ के समान जाते हैं और जहां तक धर्मास्तिकाय का अवलम्बन है वहां तक जाते हैं, फिर लोकाकाश के अंत में स्थिर हो जाते हैं। इस पद को मोक्ष पद कहते हैं, तथा इस समय आत्मा को सिद्ध परमात्मा कहते हैं कर्म बंध व उस के कारणों से रहित हो जाने पर सिद्ध भगवान फिर संसार वास में नहीं पड़ सकते। इस तरह भेद विज्ञान के प्रतापसे सच्चे आत्मस्वरूप का लाभकर यह जीव बहिरात्मा से अंतरात्मा और फिर अंतरात्मा से परमात्मा हो जाता है। भावार्थ—आत्म शुद्धि का एक मात्र उपाय आत्म समाधि है इसी की प्राप्ति का उपाय आचार्य ने इस ग्रन्थ में भले प्रकार दर्शा दिया है।

संस्कृत टीकाकार का अंतिम मंगलाचरण।

श्लोक—येनात्मा बहिरन्तरुत्तमभिदा त्रेधा विवृत्योदितो ।
मोक्षोऽनन्तचतुष्टयामल वपुः सद्ध्यानतः कीर्तितः॥
जीयात्सोऽत्र जिनः समस्त विषयः श्री पादपूज्योऽमलो
भव्यानन्दकरः समाधिशतक श्रीमत्प्रभेन्दुः प्रभुः ॥

अन्वयार्थ—(येन) जिस ने (बहिः अंतः उत्तम भिदा त्रेधा) बहिरात्मा अंतरात्मा और परमात्मा ऐसे तीन भेद से (आत्मा) आत्मा को (विवृत्य) अलग २ (उदितः) बताया है, तथा (अनंत चतुष्टयामल वपुः) अनंत दर्शन अनंत ज्ञान, अनंत सुख, अनंत वीर्य मई है निर्मल देह जिस का ऐसे मोक्ष को (सद्ध्यानतः) सत्य आत्मध्यान से (कीर्तितः) वर्णन किया है। (सः) वह (जिन) जितेन्द्री (समस्त विषयः) सर्व विषयों की वासना को अस्त करने वाले (अमृतः) निर्मल, (भव्यानंद करः) भव्य जीवों को आनंदकर्त्ता (प्रभुः) परमैश्वर्य्यधारी (समाधिशतक श्री मत्प्रभेन्दुः) समाधिशतक की लक्ष्मी की प्रभा को बढ़ाने के लिये चन्द्रमा के तुल्य (श्री पूज्यपादः) श्री पूज्यपाद आचार्य (अत्र) इस लोक में (जीयात्) जयवंत होहु—

भावार्थ—प्रभाचन्द्र जी ने इस श्लोक में अपना भी नाम प्रगट किया है तथा श्री पूज्य पाद आचार्य का सम्यक् मार्ग दिखाने के कारण परमोपकार माना है।

इस भाषा टीका में श्री प्रभाचंद्र कृत संस्कृत टीका का बहुत कुछ आलम्बन लिया गया है अतएव मैं ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद उदासीन श्रावक श्री प्रभाचंद्र जी का वार वार उपकार मानता हूं।

भाष्यकार का परिचय

भाष्यकार क्षुल्लक ब्र० शीतलप्रसाद ने वीर सं० २४४६ वि-सं० १९७७ में वर्षात का समय देहली नगर में धर्मपुरा के नए जिन मंदिर के धर्मात्मा श्रावकों की प्रेरणा से विताया है। अबतक बहुत ही आनंद वर्ता है- गत दशलाक्षणी में भी अच्छा धर्म लाभ रहा है। इस शैली में मुख्य पं० फतहचन्द जी, मुहकमलाल जी महावीर प्रसाद जी, चिमनलाल जी, रतनलाल जी, न्यादरमल जी छज्जूमल जी, आदि हैं—

मैं अग्रवाल वंश गोयल गोत्र व लखनऊ निवासी लाला मंगल सैन का पौत्र व लाला-मक्खनलाल का पुत्र हूं-वीर सं० २४३६ में शोलापुर में मार्गसिर मास में ऐलक श्री पन्नालालजी महाराज के केशलोच के समय ब्रह्मचर्य प्रतिमा के नियम लिये जिनका यथाशक्ति पालन कर रहा हूं।

अध्यात्म चर्चा की गाढ़ रुचि है इस से श्री समाधिशतक ग्रंथ के अवलोकन का सौभाग्य प्राप्त हुआ- ठेठ हिन्दी भाषा में कोई भी भाषाटीका न देख कर आत्मरसिक भाई व बहनों के लाभार्थ व अपने उपयोग को स्वरस में रमाने के लिये इस ग्रंथ की टीका का प्रारंभ बागीदौरा जिला बांसवाड़ा (मेवाड़) में गत वर्ष किया था। अवकाश न मिलने से कुछ काम न हो सका—

अब अंतराय कर्म के क्षयोपशम से किसी विघ्न बाधा को न पाकर आज दिन इस महान ग्रंथ की भाषा वचनिका पूर्ण की है।

संस्कृत व्याकरण न्याय साहित्य तथा धर्मशास्त्र का कुछ बोध न होने के कारण जो कोई भूलें रह गई हैं उन्हें विद्वज्जन सम्हार लेवें और मुझे अल्पज्ञ जान क्षमा करें—

समाप्त की मिती आश्विन कृष्णा पंचमी शनिवार वीर सं० २४४६ वि० सं० १९७७ तारीख २ अक्टूबर १९२० वार शनिवार।

शुभंभूयात्   शुभंभूयात्   शुभंभूयात्

शुद्धाऽशुद्ध पत्र ।

कृपाकर अशुद्धियों को शुद्ध कर फिर पढ़ें ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११	२	दृष्टिमेकं	दृष्टमेकं
,,	४	नास्मि	नात्मा
,,	,,	तमतो	ततो
,,	१२	कीणका	कणिका
१५	२	कार्य	काय
१५	३	भत्य	भव्य
,,	१२	अल्प	भव्य
,,	२६	उनही	उन ही को
,,	३०	समन	समव
१६	२	भक्ति का	भक्ति श्री
,,	८	वे संसार	व संसार
,,	२४	के सर्वथा	को सर्वथा
,,	,,	शारीरिक	क्षणिक
,,	,,	वसुधारी	वस्त्रधारी
,,	,,	गौतम बुद्ध का	गौतम बुद्ध को
,,	२६	द्रत्य	द्रव्य
१७	२२	मिराकार	निराकार
१८	८	अरहन्त	अरहंत
१६	१६	निश्चयकार	निश्चयकरि
,,	२७	उपयोग स्वस्थ	उपयोग स्वरूप
२०	११	आत्म	आत्मा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१	२३	शक्ति	व्यक्ति
२६	६	ज्ञायिक	ज्ञायक
,,	९	शब्दों एक का	शब्दों का एक
२७	६-७	पशुओं की जीवनी	भी
,,	२६	मिथ्यावादी	मिथ्या दृष्टि
२८	५	ऽनिहि	ऽपिहि
,,	८	अप	आप
,,	११	वस्तु परिणत	वस्तु या पर परिणति
२९	१५	निश्चिय	निश्चय
,,	२४	मानरक्षाता	मानरक्षण
,,	२५	वह उस को	उस को
३०	८	ज्ञाता	आता
,,	९	मिथ्यात्वलक्षण	मिथ्यात्वदशा
,,	१६	भागी हैं	धारी हैं यद्यपि
,,	२२-२३	श्चन्त	श्चल
,,	२३	मिल	मिट
,,	२८	क्षेत्रावमाह	क्षेत्रावगाह
३२	२	उस को ऐसा	ऐसा
३४	६	इस उपदेश	इष्टोपदेश
,,	१९	मिथ्या ही	मिथ्याती
३५	३	श्रद्धान ही	श्रद्धानी ही
३७	२०	मिथ्याही	मिथ्याती
,,	२१	पर्याप्त	पर्याय

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३६	१०	कर्मों का	कर्मों को
४२	१५	वहिरात्मान्या······	वहिरर्वा······
,,	१७	प्रविशत्	प्रविशेत
४४	२७	विवाद	विषाद
४६	२३	आड़ा	आज
,,	२८	का	को
,,	,,	अन्तरात्माबुद्धि	अन्तरात्मबुद्धि
४८	१२	किरिण	किरन
४६	२७	माध्यन्न	माध्यन्त
५०	२२	जो कुछ परे	जो कुछ
,,	२४	समझता	समझाता
५२	१५	त्यागना	त्यागता
५३	१७	ज्ञापक	ज्ञायक
५४	२२	धौम्य	ध्रौव्य
५५	६	१०	१८
,,	२४	वृद्धि	बुद्धि
,,	,,	इष्टि	दृष्टि
५६	२	में	मैं
,,	१०	में	म
५७	३	वह	व
५८	१०	का	कर
६०	२६	वहां	वही
६१	२९	संयोग	सयोग

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६२	१५	विकल्प	निर्विकल्प
,,	२५	क्योंकि	क्योंकि जो
,,	२६	शत्र	शत्रु
६४	१४	जो कर्म	नो कर्म
६८	१६	इन्द्रियत्त्व	इन्द्रिय व
७०	१	स्वभाव वी	स्वभाव की अपेक्षा
,,	६	विकलरूप व सतराग	विकल्परूप व सराग
७२	८	चर्चा	चर्या
७३	१०	ह्मित दुश्र	ह्मिह दु श्र
७६	२	उपयोग	उपभोग
,,	१३	को भेद	का भेद
७७	६	आक्षेप	आविक्षेप
,,	१२	आदि की	आदि को
७८	१६	अपमानादाय	अपमानादय
८१	२२	जैसे २	जैसे
,,	,,	उठता	उठाता
८२	२०	देहँ	देहे
,,	,,	शरीर में	शरीर में व
,,	२१	वहिरात्मा	ऐसा वहिरात्मा
८३	१६	परित्र	परत्र
,,	२२	वृद्धि	बुद्धि
८४	१३	पने की वृद्धि	पने की बुद्धि
८५	८	कारण	का मरण

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८५	१०	इसे	इस
,,	१५	निरापन्न	निष्पन्न
,,	२६	श्राता	ध्याता
८६	४	तन्मय हैं	स्वरूप में दिखते हैं
८७	३	जनाना	जमाना
८८	१३	विलाम	का विलास
८९	१०	दृष्ट	इष्ट
,,	१६	विकल्प	विकल्प सहित
९२	१९	इलका	इस का
९३	८	उदेश	उपदेश
,,	९	विपयों	शिष्यों
९५	१४	दिखलाने	दिखजाने
९६	७	ऐव	एव
१००	१४	लद्द्रं	लद्धं
१०२	८	निप्त	नित्य
१०३	८	में तो	में हो
,,	१२	पर्याय	यथार्थ
१०४	५	मन्य	मन्यस्य
,,	२०	रूप को	रूप कहे
१०५	१०	स्वरूप को	स्वरूप के
,,	२५	तीव्र	तीव्र
१०६	९	प्रभु	प्रभु
,,	१३	प्रभु	प्रभु
१०७	१२	समझ ने	समझाने

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०८	११	इष्ट	इष्ट
,,	१६	आश्रम	आश्रय
,,	१८	कहने	रहते
,,	२२	राग करने	रागकर
,,	२६	उस तप	जिस तप
१०६	१	आनन्द	आदि
,,	,,	पदाथा	पदार्थों
११२	६	इस	उस
११५	१३	फिर	गिर
११६	२४	ज्ञापक	ज्ञायक
,,	,	अज्ञापक	अज्ञायक
११८	४	निश्चय	निश्चय
,,	७	मर जाने	मर जावे
११६	७	योगी की	योगी को
१२१	५	बीडां	बीजं
,,	,,	निवपंते	निवपते
,,	१३	,,	,,
१२५	१८	शरीरादि	व्यापार वणिज आदि व शरीरादि पर्यायों में
१२६	२६	आश्रयका निरोध	आश्रव का निरोध
१२७	१०	उस	उस के
१२८	१५	परिणाम न	परिणमन
१२६	७	चेतन पदार्थ	चेतन
,,	८	अचेतन	अचेतन पदार्थ

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२६	१५	अरयान्	व्याख्यान
,,	२३	अस्नाकं	आत्मानं
,,	२७	चरित्र	चारित्र
१३०	२	श्रद्धा न	श्रृद्धान
,,	११	श्रवक	श्रावक
,,	१२	निमु	मुनि
,,	१४	चुदा	जुदा
,,	१५	जाने	हो जावे
,,	२१	व्यावृप्ता	व्यावृत्ता
,,	२४	आत्मानि	आत्मानि
,,	२६	उन	उन की
१३१	२	भी कभी	कभी भी
,,	१६	दृढ़ता	दृढ़तर
१३२	२	अव्रतागीत	अव्रतानीव
,,	५	न करने	करने
,,	८	मोक्षर्थिस	मोक्षार्थी
,,	६	अव्रतानिद्व	अव्रतानि इव
,,	१०	अपि	अपि
,,	१८	संवधो	सम्बन्धों
,,	१६	दया का	दया या
,,	२१	भमत्व	ममत्व
,,	२७	अथा तिया	अयातिया
१३३	३	वन्द	वन्ध
,,	५	नौ कर्मकर	नोकर्म

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३३	७	योक्ष	मोक्ष
,,	८	अनुभव	अशुभ व
,,	१६	त्यजेन्ता	त्यजेत्ता
,,	१६	पदे	पदं
,,	२५	रक्खो	रक्खे
१३४	८	होता	नहीं होता
,,	१३	इन्तुक	इच्छुक
,,	१६	न व्रतों	व व्रत
,,	१६	यदन्र्ज	यदतन्तर्जे
,,	२१	अतर्जे	अंतर्जे
,,	,,	वचनों के	वचनों
,,	२३	क्यों	क्योंकि
,,	२६	हष्टं	इष्टं
,,	२७	गया है	कहा गया है
१३५	२	अपने शुद्ध जालों से रहित हो अपने	अपने
,,	१७	परायणांः	परायणाः
,,	१८	स्वमेव	स्वयमेव
१३६	१८	अविरत	अविरत
,,	,,	था था	था
१३७	६	वभाव	भराव
,,	७	करता	कराया
,,	१०.	मकाश	प्रकाशक
,,	१८	वड़ा	वड़ा हूं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४३	१	ग्रात्मा	आत्मा और
,,	५	यथा	तथा
,,	१८	वहिरात्याओं	बहिरात्माओं
,,	१६	विभुवः	विभ्रम
,,	२०	दर्शनः	दर्शिनः
१४४	१८	शास्त्रोंऽपि	शास्त्रोऽपि
,,	२०	ज्ञानात्मा	ज्ञातात्मा
,,	२३	जाग्रत	जाग्रत्
,,	२५	ज्ञानात्मा	ज्ञातात्मो
१४५	११	परमद्वहिन्त	परमद्ववम्हि
,,	११	नवं	तवं
,,	,,	धारई	धारेई
१४५	१२	वालपदं	वालवदं
१४७	१४	ध्येह	ध्येय
,,	१८	तादृशाः	तादृशः
,,	१६	दीर्यं	दीपं
,,	२०	ननमू	नमू
,,	२२	परमा	परमात्मा
,,	२३	पर्तिः	नर्तिः
,,	२५	फलकृता	फल
१४८	१	सिद्ध का स्वरुप	सिद्ध का स्वरूप ध्यान में लेकर अपने को अरहंत
,,	३	आत्मा को शुद्ध ज्ञाता को	आत्मा को

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४८	१२	न माल्यैव	माल्यैव
,,	,,	यता	यथा
,,	१५	मरमात्मा	परमात्मा
,,	१६	लाभ के लिए	लिए
१४६	७	नित्त	नित्य
,,	११	आवाचा	अवाचा
,,	१६	रतत्त्व	परतत्त्व
१५०	१२	योगन	योगत
,,	१३	तेरा	तेज
१५१	१	कर्मवंध	कर्मबंध
,,	१२	अवहार	व्यवहार
,,	२२	आत्म	आत्मा
१५२	३	अभावन	अभाव
,,	६	प्रतिमास	प्रतिभास
,,	८	इसका कभी नाश	नाश
१६४	२	दंगा	दगा